भारतीय शिक्षा

राजेन्द्र प्रसाद

दिल्ली
आत्माराम एण्ड संस
१९५३

निवेदन

राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद के शिक्षा सम्बन्धी विचारों का यह संग्रह पाठकों के सामने रखने में हम जिस आनन्द और आत्मगौरव का बोध कर रहे हैं, कहते नहीं बनता।

गोस्वामी तुलसीदास ने ऐसे अवसरों के लिये कहा था—

उर अनुभवति न कह सक सोई।
कवन प्रकार कहे कवि कोई॥

राष्ट्र के निर्माण में राष्ट्रपति का जो योग है, राजनीति, समाज-नीत, शिक्षा और संस्कृति के हर क्षेत्र में उनकी जो देन है, हमारे पाठक उससे भली भाँति परिचित हैं। कस्तूरी की गन्ध शपथ से नहीं जानी जाती। इस उक्ति के अनुसार हम और अधिक क्या कहें? महापुरुष की वाणी कुछ समय बीत जाने पर भावी पीढ़ी के लिये बराबर शास्त्रवाणी बनती गई है। शिक्षा और संस्कृति के सिद्धान्त जो हम इस ग्रन्थ के रूप में पाठकों की सेवा में प्रस्तुत कर रहे हैं, आगे चलकर शास्त्रवाणी का काम देंगे ऐसा हमारा विश्वास है।

२५ नवम्बर, १९५३

विनीत
प्रकाशक

अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड
(नवीन शिक्षा-पद्धति)

द्वितीय खण्ड
(प्राचीन शिक्षा-पद्धति)

तृतीय खण्ड
(वैज्ञानिक शिक्षा-पद्धति)

चतुर्थ खण्ड
(प्रकीर्ण)

प्रथम खण्ड

नवीन शिक्षा-पद्धति

१

शिक्षा-व्यवस्था का पुनर्निर्माण

२

विश्वविद्यालय और सामाजिक कल्याण

३

शिक्षा का माध्यम

४

शिक्षा और सामञ्जस्य

५

शिक्षा की नयी रूपरेखा

६

शिक्षा और आत्मविद्या

शिक्षा-व्यवस

मेरे लिए यह बहुत सन्तोष की
कि केवल भारत के ही नहीं, वरन् पड़
भी विश्वविद्यालयों के उपकुलपतियों
करने का मुझे यह अवसर दिया गया
बैठक हुई थी और तब से उसके फलस्व
वर्ष अपनी बैठक विश्वविद्यालयों के सा
के लिए तथा विश्वविद्यालयों की शिक्ष
वांछनीय समझे गये कार्य को हाथ में
में भारत सरकार ने एक आयोग
विचार करने के लिए नियुक्त किया थ
इंगलेंड और अमेरिका के ख्यातनामा शि
राधाकृष्णन् ने सँभाला था। आयोग
केवल हमारे विश्वविद्यालयों की शिक्षा-
उनके सम्बन्ध में बहुत ही सारगर्भित शि
देश के निवासी हैं। हमारा संविधान ग
प्रजातन्त्र को सफल बनाने के लिए आव
जरूरत है। इसका यह अर्थ नहीं है कि
थे। हमारे देश में अनेक गणतन्त्र रहे हैं
किया है उसकी तुलना में वे बहुत ही छ
के क्षेत्र के अनुपात में बढ़ गया है। हम
उनको उन कार्यों के योग्य बनायें जो
ही कुछ खास बात तब तक नहीं कर स
की बुद्धि, सार्वजनिक भावना और देश
न हो। शिक्षण-संस्थाओं का यह काम

---

१. भाषण : अन्तर्विश्वविद्यालय म
फरवरी, सन् १९५० ।

गुण विकसित हों और उनके प्रभाव में पलने वाले व्यक्तियों को आवश्यक योग्यताएँ प्राप्त हों। विश्वविद्यालय आयोग के प्रतिवेदन का महत्त्व इस बात में है कि वह इस देश की वर्तमान व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन की आवश्यकता को स्वीकार करता है तथा इस आधार पर शिक्षा-समस्याओं पर विचार करता है। अतः इस को बहुत से क्रान्तिकारी परिवर्तनों का सुझाव देना पड़ा है। विश्वविद्यालय आयोग की नयी रिपोर्ट की यह खूबी है कि वह पुरानी परम्परा से पूर्णतया विच्छेद का सुझाव नहीं रखती, वरन् जो कुछ उसमें प्राप्य है उसमें से सबसे अच्छे को बनाये रखना चाहती है और जो सर्वोत्तम बात प्राप्त करना वांछनीय है उसके लिए प्रयास करने का सुझाव रखती है।

मुझे इसमें शंका नहीं है कि हमारी आधुनिक शिक्षा-परम्पराओं और आकांक्षाओं के संरक्षक की हैसियत से और हमारे विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधि होने की हैसियत से आप उन सिफ़ारिशों और सुझावों पर पूरा विचार करेंगे।

यद्यपि हमारे विश्वविद्यालय लगभग एक शताब्दी से अस्तित्व में हैं तो भी पिछले ४० वर्षों में उनकी संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई है और कुछ वर्षों में तो उनकी अभिवृद्धि उल्लेखनीय और चमत्कारिक है। यह भी विशेष प्रवृत्ति पायी जाती है कि एक के बाद दूसरा विश्वविद्यालय स्थापित किया जाय। इससे प्रकट है कि उच्च शिक्षा के विकास के लिए लोगों के मन में कितनी रुचि है। पिछली अर्द्धशताब्दी में हाई स्कूलों की संख्या में बहुत ज्यादा वृद्धि हुई है और इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि हाई स्कूलों से शिक्षा समाप्त करके निकलने वाले विद्यार्थियों की आगे की शिक्षा के लिए नये विद्यालयों की माँग बढ़ जाय। स्कूलों और विद्यालयों की संख्या बढ़ने के फलस्वरूप विश्वविद्यालयों की संख्या बढ़ना ही अनिवार्य था। मुझे इस बात की प्रसन्नता है; किन्तु साथ ही मुझे ऐसा लगता है कि ऐसे क्षेत्र में केवल संख्या के बढ़ने का यह आवश्यक अर्थ नहीं है कि मानसिक और बौद्धिक साधनों में भी अनुपातेन वृद्धि हुई है। यदि मैं—इन संस्थाओं के विद्यार्थियों की मानसिक शक्ति के स्तर में किसी सीमा तक गिरावट से हुई, और मेरा सीमित अनुभव मुझे इस गिरावट की ओर संकेत करता है,—अपनी निराशा की बात आपसे कहूँ तो मैं नहीं चाहता कि उससे आप कुछ और धारणा मन में बैठा लें। किन्तु इस भावना के अतिरिक्त जो इन संस्थाओं से मेरे से अधिक निकटतम सम्बद्ध लोगों के मन में चाहे हो और न भी हो, मुझे यह भी लगता है कि अब समय आ गया है जब हमें अपनी सारी शिक्षा-व्यवस्था के पुनर्निर्माण पर विचार करना है और इसके लिए प्रयास करना है। चूँकि विश्वविद्यालय आयोग की रिपोर्ट हमें इस दिशा में आगे बढ़ाती है इसलिए मैं इस को पर्याप्त महत्त्व देता हूँ।

इस विषय में कुछ मूलभूत प्रश्न ऐसे हैं जिनका उत्तर देना हमारे लिए आवश्यक है। उदाहरणार्थ शिक्षा के माध्यम के प्रश्न को ही ले लीजिये। कुछ भी कारण क्यों न हो, काफ़ी लम्बे समय से हमारी शिक्षा की माध्यम विदेशी भाषा रही है। मैंने अपनी पढ़ाई अंगरेज़ी अक्षरों के सीखने से आरम्भ की थी। तब से इस दिशा में कुछ परिवर्तन हो गया है, पर मैं नहीं जानता कि क्या यह कहा जा सकता है कि बालक की शिक्षा का माध्यम सर्वथा उसकी मातृभाषा कर दी गई है। अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि अभी इस परिवर्तन की आरम्भिक अवस्था ही पूरी होने वाली है। जब हम माध्यमिक शिक्षा की बात सोचते है तो हमें पता चलता है कि बहुत से स्थानों में शिक्षा और परीक्षा का माध्यम अंगरेज़ी के स्थान पर भारतीय भाषाएँ हो रही हैं। किन्तु मैं यह नहीं कह सकता कि यह परिवर्तन पूरी तरह किया जा चुका है। विश्वविद्यालयों में तो यह परिवर्तन मुश्किल से ही कहीं शुरू हुआ है। मेरा विश्वास है कि इस विषय के सब अधिकारी और जानकारी रखने वाले लोग यह मानते हैं कि यदि शिक्षा प्रभावशाली और धन तथा समय की दृष्टि से मितव्ययी होनी है तो वह जनता की भाषा में दी जानी चाहिए। देश की वर्तमान परिस्थितियों में इस सर्वमान्य सिद्धान्त पर किस प्रकार व्यवहार किया जाय, केवल यही प्रश्न विचारणीय है। आयोग ने इसका एक हल सुझाया है जिसे मैं एक प्रकार से समझौते वाला हल मानता हूँ। सब बातों पर विचार करके व्यक्तिगत दृष्टि से उसे एक शर्त पर पूर्णतया स्वीकार करने में मुझे कोई हिचकिचाहट नहीं है और वह शर्त यह है कि इस पर अविलम्ब और मन में निहित विपरीत भावना के बिना कार्य आरम्भ कर दिया जाय।

हमारे सामने परीक्षाओं की भी समस्या है जो अब तक हमारी शिक्षा-व्यवस्था का प्रधान अंग रही है। जब हम उन परिस्थितियों पर विचार करते है जो हमारे विश्वविद्यालयों के आरम्भिक पचास वर्षों में उनको सौंपी गई थीं तो हमें पता चलता है कि बात कुछ और हो भी न सकती थी। उस समय हमारे विश्वविद्यालय केवल ऐसी ही संस्थाएँ थीं जो स्वयं पढ़ाने के लिए ज़िम्मेदार न थीं, वरन् केवल इस बात से सन्तुष्ट थीं कि विद्यार्थी को यह प्रमाण-पत्र दे दिया जाय कि उसने विशिष्ट दर्जे की योग्यता हासिल कर ली है। जिन संस्थाओं का यह काम था कि वे विश्वविद्यालयों द्वारा दी जाने वाली इन परीक्षाओं में बैठने वाले विद्यार्थियों को तैयार करें उनका स्वभावतः यह प्रयास रहता था कि इस प्रयोजन को, अर्थात् परीक्षाओं में सफलता प्राप्त कराने के प्रयोजन को, वे पूरा करें क्योंकि इसी प्रयोजन से तो विद्यार्थी उनमें प्रविष्ट होते थे। विद्यार्थियों के लिए भी इस बात के अलावा और कुछ चारा न था कि वे और सब बातों से ज्यादा इन प्रमाण-पत्रों को महत्त्व दें। क्योंकि इन्हीं प्रमाण

पत्रों पर तो उनका भविष्य और भावी जीवन लगभग सर्वथा निर्भर करता था। स्वभावतः शिक्षकों और विद्यार्थियों के लिए एक तरफ़ और विद्यालयों और विश्व-विद्यालयों के लिए दूसरी तरफ़ परीक्षायें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात हो गई। इस व्यवस्था की आलोचना यही है कि आज भी ऐसे विश्वविद्यालयों की जो अभिज्ञान प्रदान करने वाले हैं आमदनी का मुख्य भाग उन शुल्कों से आता है जो उनकी परीक्षाओं में बैठने के अधिकार प्राप्त करने के लिए विद्यार्थी देते हैं। यद्यपि एक शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में या उससे कुछ अधिक समय में शिक्षा प्रदान करने वाली संस्थाओं के रूप में कुछ विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई है, तथापि वे भी परीक्षाओं की जकड़ से अपने को मुक्त नहीं कर पाये हैं। यह भी उसी व्यवस्था का स्वाभाविक परिणाम है जो हमारे देश में थी और जिसके अन्तर्गत हमारे शिक्षक भाई अपनी जीविका के लिए केवल कुछ सीमित प्रकार की नौकरियों और धन्धों की बात ही सोच सकते हैं। इन धन्धों में सफलता प्राप्त करना भी इन परीक्षाओं के फलों पर बहुत कुछ निर्भर करता है। अतः यह प्रश्न विचार करने योग्य है कि इस भार से किस प्रकार और किस सीमा तक नवयुवकों को मुक्त किया जाय जिससे कि वे अपना ध्यान और समय सत्य-ज्ञान और सत्य-शिक्षा के उपार्जन में लगा सकें जो परीक्षा में सफलता प्रदान करने वाली और अधिक नम्बर दिलाने वाली जानकारी से बिलकुल विभिन्न होगी। जब तक इस दृष्टिकोण में परिवर्तन नहीं होता तब तक मुझे भय है कि हमारे विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों के लिए मौलिक ज्ञान के क्षेत्र में विशेष कामयाबी हासिल करना सम्भव नहीं होगा। यह सत्य है कि हमारे यहाँ बहुत से मेधावी व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने अच्छी ख्याति पाई है। उनकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी होगी। किन्तु वे तो मरुभूमि में इक्की-दुक्की हरियाली के समान हैं जो अपने कामों के कारण विख्यात हो जाते हैं किन्तु अपनी योग्यता के बावजूद देश की रूपरेखा बदलने में सर्वथा असमर्थ रहते हैं।

हमारे देश में किसी समय गुरुकुलों की व्यवस्था थी। उस प्राचीन परम्परागत गुरुकुल-व्यवस्था में शिक्षक और शिक्षार्थी में पारस्परिक बड़े घनिष्ठ और निकटतम सम्बन्ध होते थे। अंगरेजी शिक्षा-व्यवस्था के प्रारम्भ होने तक व्यावहारिक दृष्टि से पाठशालाओं और मकतबों में भी यह घनिष्ठता बहुत कुछ मौजूद थी। यद्यपि यह बात नहीं कही जा सकती कि उस समय इसकी प्रारम्भिक शुद्धता या प्रभुता थी, किन्तु उस आदर्श से आधुनिक व्यवस्था शनैः-शनैः दूर होती चली जा रही है और आज हमारे विद्यालयों और पाठशालाओं में शिक्षक और विद्यार्थी के बीच मालिक और नौकर के सम्बन्ध के अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध सम्भवतः नहीं है। विद्यार्थी शिक्षक की सेवाओं के लिए शुल्क देता है और शिक्षक दिन में कुछ घंटे पढ़ाने का काम कर देता है। इसके अतिरिक्त दोनों में और कोई सम्पर्क नहीं होता। इस बारे में अपवाद हो सकते

है, किन्तु मुझे भरोसा है कि स्थिति का ऐसा दिग्दर्शन करके मैं उस रूप को भौंडा चित्र नहीं दे रहा हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि विद्यार्थियों में जिस अनुशासनहीनता की बात आजकल आप लोग सुनते हैं वह इन्हीं वर्तमान परिस्थितियों का स्वाभाविक परिणाम है। अनुशासन सर्वदा बलपूर्वक नहीं मनवाया जाता, वरन् उसकी भावना हृदय के अन्दर से ही पैदा होती है। इस प्रयोजन के लिए यह आवश्यक है कि कुछ स्वाभाविक परिस्थितियाँ मौजूद हों। आज ये परिस्थितियाँ मौजूद नहीं हैं और इसलिए हम कुछ अधिक अच्छे परिणामों की भी अपेक्षा नहीं कर सकते।

इसी समस्या के साथ विद्यार्थी के इस गुण के विकास की समस्या भी बँधी हुई है, जिसे हम एक शब्द में 'चरित्र' कह सकते हैं। हमारी शिक्षा-व्यवस्था ने इस बात पर ध्यान देना छोड़ दिया है, किन्तु मेरा विचार है कि अन्ततोगत्वा विद्यार्थी के मानसिक, चारित्रिक और आध्यात्मिक गठन का महत्त्व और मूल्य केवल उसके लिए ही नहीं, वरन् सारे देश के लिए उसके कोरे बौद्धिक विकास से कहीं अधिक है। यह ऐसी समस्या है जिसे हल करना है, और मुझे इस बात का हर्ष है कि हमारी शिक्षा-व्यवस्था के इस पहलू पर विश्वविद्यालय-आयोग ने विचार किया है।

एक बात और है जो मेरी दृष्टि में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वह एक नये प्रकार के विश्वविद्यालयों की जिन्हें ग्राम्य विश्वविद्यालय का नाम दे सकते हैं स्थापना का प्रश्न है। जब महात्मा गान्धी ने बुनियादी तालीम की स्कीम देश के सामने रखी थी तो कुछ लोगों ने उसे क्रान्तिकारी स्कीम समझा था, तथापि देश के ख्यातनामा शिक्षा-शास्त्रियों में से पर्याप्त ने उसका अनुमोदन किया था। और कामों की तरह जिन्हें उन्होंने अपने हाथ में लिया था वे इस बारे में भी बहुत ही स्थिरमत थे और उनकी प्रेरणा से बहुत सी प्रान्तीय सरकारों ने इस प्रयोग को प्रारम्भ किया था। पड़ौसी बिहार प्रान्त में किये जाने वाले इस प्रयोग से साधारणतया सम्बद्ध होने का मुझे भी सौभाग्य मिला था। वह प्रयोग एक छोटे पैमाने पर किया जा रहा था, किन्तु सौभाग्य-वश उसे पूरा किये जाने का अवसर मिला। ऐसी बात दूसरे प्रान्तों में नहीं हुई। बहुत सी बाधाओं के बावजूद जिनका सामना इसे करना पड़ा, यह अधिकृत व्यक्तियों की दृष्टि में पूर्णतया सफल हुआ और इसने प्रान्त के शिक्षा-शास्त्रियों के सामने कार्य का नया क्षेत्र खोल दिया। मुझे ज्ञात हुआ है कि कार्यदक्षता का ध्यान रखकर इस व्यवस्था को अब विस्तृत क्षेत्र में फैलाया जा रहा है। कार्य-दक्षता तो योग्य और अच्छे शिक्षकों की संख्या पर निर्भर करती है। इसलिए मेरा विचार है कि इस व्यवस्था का विस्तार यहाँ इसी बात पर निर्भर करता है कि इस प्रयोजन के लिए विभिन्न प्रकार के शिक्षकों को प्रशिक्षा में और उन्हें तैयार करने में कितना समय लगता है।

ग्राम-विश्वविद्यालयों की योजना जैसा कि रिपोर्ट के लेखक स्वयं कहते हैं इसी

योजना का ऐसे परिवर्तनों सहित विस्तार है जो उन्हें उचित जँचे हैं। मुझे ऐसा लगता है कि उसी दशा में शिक्षा के विस्तार की सिफ़ारिश करके आयोग ने देश की वर्तमान परिस्थितियों में सबसे बड़ी सेवा की है। अब यह विशेषज्ञों का और राज्य सरकारों और केन्द्रीय सरकार का काम है कि वे इन सिफ़ारिशों को अमल में लाने के लिए व्यावहारिक बातों का निर्णय करें। मुझे इसमें शंका नहीं है कि यह योजना देश-वासियों के दृष्टिकोण में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर सकती है और ग्रामों की रूपरेखा को बेहतर बना सकती है। आजकल गाँव से आने वाले नौजवान मैट्रीकुलेशन परीक्षा पास कर लेने के पश्चात शहर में, जहाँ उन्हें हर हालत में आजकल की महँगी के कारण अपने खर्चे को अपनी आमदनी के अन्दर रखना मुश्किल होता है, किसी दफ़्तर में कुछ रुपये तनख़्वाह वाली नौकरी पाने की कोशिश करते हैं। इससे तो कहीं बेहतर होगा कि वे अपने परिवार के पुराने धन्धे में ही लगे रहें और गाँव के वातावरण में खेती को सुधारें और स्वास्थ्यजनक जीवन व्यतीत करें। किन्तु आजकल का तथाकथित शिक्षित नौजवान यह बात नहीं कर सकता। चूँकि वह पढ़-लिख गया है इसलिए अपने बाप या चाचा के खेत में उसके लिए काम करना सम्भव नहीं है। मेरे सामने एक प्रश्न सदा बना रहा है कि क्या सत्य ही हमारी शिक्षा का प्रयोजन हमारे लोगों को अयोग्य और परावलम्बी बनाना है? क्या उसे उनको अधिक आत्मविश्वासी, जीवन-संघर्ष का मुक़ाबला करने के लिए सुसज्जित और अपने परिवारों की और साथ-ही साथ सारे देश की सेवा के लिए विशिष्टतया सुसज्जित करना नहीं है? जो व्यवस्था अब तक क़ायम रहा है उसने गाँव से उन लोगों को अलग कर दिया है जिन्हें शिक्षा पाने का अवसर मिला है और इस प्रकार गाँवों को वहीं-का-वहीं रहने दिया है जहाँ वह पहले थे। इस शिक्षा के परिणामस्वरूप गाँव से उनके सर्वोत्तम व्यक्तियों के अलग हो जाने की समस्या के दलदल से बचने का रास्ता संभवतः इन ग्राम्य विश्व-विद्यालयों की स्थापना द्वारा निकल सकता है। किन्तु मैं आपका और समय नहीं लेना चाहता। मुझे आशा है कि आपका ध्यान उन बातों की ओर आकृष्ट करने के लिए जो मुझे ठीक जँची आप धृष्ट न समझेंगे।

मुझे ऐसा लगा कि आपका जैसा मण्डल ऐसे प्रश्नों पर सब बातों को ध्यान में रखकर विचार कर सकता है और इसलिए मैंने उनकी ओर आपका ध्यान आकृष्ट करने की स्वतन्त्रता बरती। इस आयोग में भाग लेने के लिए मुझे आपने यह मौक़ा दिया, इसके लिए मैं आपको धन्यवाद देता हूँ और चाहे मेरा इसमें कितना ही कम भाग क्यों न हो इसका उद्घाटन करने में मुझे बड़ी प्रसन्नता है।

२

विश्वविद्यालय और सामाजिक कल्याण[1]

यहाँ मेरे समक्ष केवल भारत, बर्मा और लंका के विश्वविद्यालयों के ही नहीं, वरन् अन्य देशों के विश्वविद्यालयों के भी जो राष्ट्रमण्डल के सदस्य है, उपकुलपति और अन्य उच्चाधिकारी भी समवेत है और इसलिए जो आदर आपने मुझे इस सम्मेलन के उद्घाटन करने का निमन्त्रण देकर प्रदान किया है उसकी मै बहुत क़द्र करता हूँ। मेरा विचार है कि यह पहला अवसर है कि जब ऐसा सम्मेलन भारत में हो रहा है और भारत का इन्टर यूनिवर्सिटी बोर्ड और विशेषत: दिल्ली का विश्वविद्यालय इस बात के लिए अपने को विशेष गौरवान्वित समझता है कि उसे ऐसे प्रख्यात विद्वानों की मेहमाननवाज़ी करने का अवसर मिला है। आपने विचार-विनिमय के लिए जो विषय अर्थात् 'सामाजिक कल्याण की अभिवृद्धि मे विश्वविद्यालयों का स्थान' रखा है, वह सम्मेलन के सदस्यों के लिए ही नहीं, वरन् संसार भर के विचारवान् नर-नारियों के लिए भी काफ़ी महत्त्वपूर्ण और हृदयग्राही है। हम लोगों को जो आज संसार में जीवित है बहुत सी वस्तुएँ बहुत मामूली-सी लगती हैं, किन्तु आज से कुछ वर्ष पहले तो उन्हें अभूतपूर्व और चमत्कारिक वस्तुएँ माना जाता था। पिछले कुछ वर्षों से भौतिक विज्ञान और शिल्प के क्षेत्र मे नये तथ्यों के पता चलने का जो रफ़्तार रही है उसने केवल दुनिया की शक्ल-सूरत ही नहीं बदली है, वरन् दूर-दूर प्रदेशों के रहने वाले नर-नारियों का जीवन भी बिलकुल बदल दिया है। भाप और बिजली ने यातायात के औद्योगिक उत्पादन और संचार-साधनों मे क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया है। औषधि और शल्य के क्षेत्र मे जो नयी बाते खोज निकाली गई है उनसे शरीर के अनेक रोगों की जो अभी तक असाध्य रोग समझे जाते थे, चिकित्सा आसान हो गई है। इस प्रकार विज्ञान ने जीवन को सरल और आरामदेह बनाने के अनेक साधन मनुष्य को प्रदान कर दिये हैं। इन्हीं खोजों ने उसके हाथ मे जीवन के हर क्षेत्र मे विनाश के साधन दे दिये है। वर्षों मे आणविक शक्ति को क़ाबू में लाने के सम्बन्ध में जो प्रगति हुई है उससे तो विनाश के साधनों में आज तक जो तरक्क़ी हुई थी उससे कहीं ज्यादा विनाश-शक्ति मनुष्य के हाथों में आ गई है। उसके

१. भाषण: राष्ट्रमण्डल के विश्वविद्यालय सघ की कार्यकारिणी और अन्तर्विश्वविद्यालय समिति के संयुक्त अधिवेशन का उद्घाटन।

कल्याणकारी प्रयोगों या प्रभावों के सम्बन्ध में अभी तक कोई बात हमें ठीक तरह से न तो ज्ञात है और न ही दिखाई दी है। इस प्रकार मानव-जाति के और सभ्यता के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या संसार के सामने है। मेरा वर्तमान जगत् के सम्बन्ध में यह अन्दाजा ग़लत नहीं है कि आदमी ने आज दानवों की-सी शक्ति और सत्ता अथवा उस शक्ति और सत्ता से भी अधिक सत्ता और शक्ति जो अब तक दानवों की समझी जाती रही है प्राप्त कर ली है। किन्तु उसके कल्याणकर प्रयोग के रहस्य को उसने नहीं जान पाया है। संभवतः मेरा यह कहना ठीक ही होगा कि उसने कल्याण-कर प्रयोगों के स्थान पर उसके बुरे प्रयोगों को ही अभी सीखा है। यदि हम उसका कल्याणकारी प्रयोग नहीं कर पाये तो जितनी ही शक्ति और सत्ता अधिक होगी उतनी ही विनाशकारी उनकी सामर्थ्य होगी। आज इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि मानव को विज्ञान ने जो ज्ञान और शक्ति प्रदान की है, यदि उसका उचित प्रयोग और नियन्त्रण करने का रहस्य उसने न जाना तो मानव-जाति के सिर पर मृत्यु नाचने लगेगी।

हमारे पुराणों में एक कथा है जिसे यहाँ इस तथ्य पर प्रकाश डालने के लिए दुहरा देना चाहता हूँ। कहा जाता है कि एक दुष्प्रकृति वाला भस्मासुर नामी राक्षस था। उसने कठोर तपस्या की। भगवान् शिव प्रसन्न हो गये और उसे दर्शन दिये और उससे कहा कि वह कोई भी वर माँगे, और उसे आश्वासन दिया कि भगवान् वह वर प्रदान करेंगे। उस असुर ने अपनी कठोर तपस्या में अनेक यातनाएँ सही थीं और इस प्रस्ताव से वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने यह वर माँगा कि भगवान् उसको ऐसी शक्ति प्रदान करें कि वह जिस व्यक्ति के सिर पर हाथ रखे वह तुरन्त ही भस्म हो जाय। भगवान् ने वचन दे दिया था और वे उसे भंग नहीं कर सकते थे। इसलिए उन्होंने वह शक्ति उसे प्रदान कर दी। असुर मन में यह सोचने लगा कि विश्व भर में मानवों या देवताओं में ऐसा कौन सबसे अधिक शक्तिशाली व्यक्ति है जिसे भस्म कर वह सारे भूत जगत् का एकछत्र प्रभु बन जाय। उसने सोचा कि ऐसा उस देवता के बिना कोई नहीं हो सकता जिसने उसे यह विनाश की शक्ति प्रदान की है और उसने मन में भगवान् शिव को भस्म करने की ठानी जिससे वह विश्व भर का निष्कंटक स्वामी बन जाय और उनकी पत्नी पार्वती का पाणिग्रहण कर ले। उसके इस विचार को जानकर भगवान् भागे और वह असुर उनके पीछे दौड़ा। भगवान् को कोई ऐसा स्थान नहीं मिला जहाँ वह उस असुर से अपनी रक्षा कर सकते। भगवान् शिव की पत्नी देवी पार्वती ने उनकी यह दुरवस्था देखी और उनकी रक्षा के लिए आईं। असुर के सामने वे अपने पूरे रूप और लावण्य से प्रकट हुईं और उससे कहा कि तू भगवान् शिव को इसलिए मारने की चेष्टा करता है कि तू मुझ को चाहता है। इसलिए

यदि तू मुझे विशिष्ट नृत्य से प्रसन्न कर दे तो मैं स्वयं ही तुझे अपने को अर्पण करने को प्रस्तुत हूँ। घमण्ड और विमोह के कारण असुर इस प्रस्ताव से सहमत हो गया और नाचने लगा। नाच की एक मुद्रा ऐसी थी जिसमें उसे अपना हाथ अपने सिर पर रखना था और उसने जैसे ही यह बात की वैसे ही वह वरदान के कारण वहीं भस्म हो गया। वर्तमान युग के देवताओं ने नाजिश करके मनुष्य के हाथ में संहार की ऐसी असीम शक्ति दे दी है और उसकी आँखों के सामने ऐसा विक्षिप्त करने वाला आकर्षण रख दिया है जिसे वह अपने ज्ञान के मद में सुन्दर और अभूतपूर्व समझता है। हम ईश्वर से यही प्रार्थना कर सकते हैं कि इस ताण्डव नृत्य के नाचने के लालच से वह हमें दूर रखे। इस लालच से क्योंकर बचें, यही समस्या अनेकानेक मनुष्यों के सामने आज उपस्थित हो रही है। हमें ईश्वर से यह प्रार्थना करनी चाहिए कि देवी सरस्वती मनुष्य को उस शक्ति और सत्ता के उचित प्रयोगों के रहस्यों को बताये जो उसने मानव को प्रदान कर दी है। वह उसे इस योग्य बना देगी कि जिस शक्ति से आज पूर्ण विनाश का खतरा है उसी का वह कल्याण-साधन के लिए प्रयोग कर सके और उसके प्रयोग से मानव की शक्ति और सत्ता का विनाश होने के बजाय उसके दोषों का ही नाश हो। इतिहास हमें यही शिक्षा प्रदान करता है कि जब तक ज्ञान से सुबुद्धि संयुक्त और नियन्त्रित न हो तब तक वह केवल स्वयं पर्याप्त तो है ही नहीं, वरन् अहितकारी भी सिद्ध हो सकता है। अतः विश्वविद्यालयों को केवल ज्ञान प्रदान कर उसका प्रसार और वृद्धि ही न करनी चाहिए, वरन् उनको सुबुद्धि का भी ऐसा आगार होना चाहिए जहाँ से ज्योति की किरणें फैलकर मानव-आत्मा को प्रकाशित कर देती है और उसे दैवी ज्योति से ओत-प्रोत कर देती है।

इसी विचार को रहस्यमयी भाषा के बजाय सीधी-सादी भाषा में मैं आपके सामने रखूँगा ? कुछ ऐसी घटनाएँ हुई हैं जिनसे सारे जगत् के रूप-रंग के पूर्णरूपेण परिवर्तित हो जाने की संभावना है। आणविक शक्ति ने मनुष्य को देवताओं की शक्ति समस्त भूमण्डल को आनन्दमय स्वर्ग अथवा निपट एकाकी प्रगाढ़ शान्तिमय समाधिस्थल बना देने की शक्ति प्रदान कर दी है। वाष्प और विद्युत के साथ-साथ जो क्रान्तिकारी परिवर्तन चले आये उनका आप सब को ज्ञान है। किन्तु आणविक शक्ति के इस भीम के सामने ये दोनों तो बेचारे घुटनों चलने वाले शिशु थे। अतः यह विचार सर्वथा बुद्धिसंगत है कि शक्ति की इस महावृद्धि में मानव के सामाजिक गठन और मानसिक स्वरूप में उससे भी कहीं अधिक क्रान्तिकारी परिवर्तन निहित है जो कि वाष्प अथवा विद्युत के कारण हुआ था।

आज के समाज के खोल से जो दूसरी क्रान्तिकारी शक्ति टकरा रही है वह वह दुर्दमनीय आन्दोलन है जो स्वामित्व-प्राप्त और पेशेवर वर्गों के मुकाबले में जीवन

की सबसे अच्छी वस्तुओं को बराबर-बराबर पाने के लिए असंख्य जनसमूह के और विशेषतः आर्थिक और औद्योगिक क्षेत्र में पिछड़ी हुई एशिया और सागर द्वीपमाला के अरबों नर-नारियों के हृदय में लहरा रहा है। गत शताब्दियों में जनसाधारण का समस्त जीवन और परिश्रम इस विश्वास से बँधा था कि उनके परिश्रम का पुरस्कार कुटिल दैव की इच्छा पर निर्भर करता है और इस बारे में न तो उनका कोई चारा है और न कोई बचत, अतः अपने दुःखभरे भाग्य को वे मरे हुए मन से माने रहते थे। किन्तु जहाँ तक संसार के और कम-से-कम एशिया के करोड़ों नर-नारियों का सम्बन्ध है, भाग्य का यह आधार वर्तमान व्यवस्था और विधान के तले से खिसक गया है या खिसका जा रहा है। उचित हो या अनुचित, किन्तु उनमें से आज अनेक यह समझ रहे हैं कि उनका अभाव और कष्ट दयासागर और सर्वज्ञाता भगवान् की देन न होकर कुटिल मानवों, वर्गों और राष्ट्रों के दुष्प्रयोजनों का परिणाम है। अपनी वर्तमान दुरवस्था के विरुद्ध उठ पड़ने के लिए अनेकों को क्षुधा का अंकुश मजबूर कर रहा है। इसीलिए आज के जगत् की राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था को मिटाने के लिए नर-नारी आगे बढ़ रहे हैं। मानव-जाति के इतिहास में ऐसा कभी नहीं हुआ कि इतने असंख्य साधारण नर-नारियों का समूह, उस ऐतिहासिक सत्ता और व्यवस्था के विरुद्ध जो उनके जीवन को शासन और नियमों में बाँधे हुए हैं, इस प्रकार तुमुल युद्ध करने के लिए और नव समाज के निर्माण के लिए कटिबद्ध होकर उठ खड़ा हुआ हो।

यदि हमारे युग की ये दोनों क्रान्तिकारी शक्तियाँ स्वभावतया अनमेल या विरोधी होतीं तब मानव-जाति के बचे रहने का लेशमात्र आशा भी न होती। भाग्यवश बात बिलकुल उलटी है। अभी कल तक ही तो मानव-जाति के उत्पादन-यन्त्र में यह सामर्थ्य न थी कि वह सफ़ेद और रंगवाले सभी मानवों की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। यह ठीक है कि वाष्प और विद्युत के उत्पादन ने बहुत वृद्धि की, किन्तु फिर भी उसकी कुल सामर्थ्य बिलकुल सीमित थी और वह इसमें असमर्थ था कि द्रुतगति से बढ़ने वाली मानव-जाति की नित्यप्रति बढ़ने वाली आवश्यकताओं की, और खास तौर से उस अवस्था में जब साधारण जनों के मन में भी यह बात बैठ गई हो कि उन्हें भी उच्च वर्ग के बराबर ही सब उत्पादित वस्तुओं में समान भाग मिलना चाहिए, पूर्ति कर सके। यह होना अनिवार्य था ही। जब शक्ति सीमित थी तो उत्पादन सीमित ही हो सकता था, पर उत्पादित वस्तुओं के भागीदारों की संख्या न तो सीमित थी और न सीमित हो सकती थी। किन्तु आणविक शक्ति ने मानव-जाति को असीम और सीमाहीन शक्ति प्रदान कर दी है। यदि इसे सृजनात्मक प्रयोजनों के लिए काम में लगाया जाय तो यह उत्पादन की असीम शक्ति पैदा कर देगी और एक ऐसे सम्पन्न जगत् की सृष्टि कर देगी जिसमें अपने भाई-बहनों

के भाग पर किसी तरह का असर डाले बिना प्रत्येक नर-नारी जो कुछ चाहेगा ले सकेगा। दूसरे शब्दों में जीवन की अच्छी वस्तुओं को पाने के लिए जनसाधारण की आकांक्षा की पूर्ति का साधन यही क्रान्तिकारी शक्ति है।

किन्तु इस बारे में शंका के लिए गुंजाइश है कि इन दो क्रान्तिकारी शक्तियों का मेल उस सामाजिक चेतना द्वारा कराया जा सकता है या नहीं जो आजकल मानवों के कार्यों का संचालन कर रही है। बहुत कुछ सीमा तक यह चेतना सीमित शक्ति और सीमित उत्पादन-युग की पुत्री है। अतः यह अनिवार्य-सा ही है कि जीवन के इन नये तथ्यों के स्वाभाविक और निहित परिणामों को समझने में यह असफल सिद्ध हो। युद्ध और अभाव के प्रति वर्तमान सामाजिक चेतना के रुख से यह आशंका और भी दृढ़ हो जाती है। आज भी इसे इस सत्य का भास हुआ प्रतीत नहीं होता कि इन दोनों का पूर्णतया अन्त करना ही मानव-जाति के बचाव और बने रहने की पहली शर्त है। अभी हाल तक युद्ध का अर्थ इसके सिवाय और कुछ न था कि कोई भी वर्ग या प्रादेशिक समूह किसी दूसरे वर्ग या राष्ट्र से अपने झगड़ों को सुलझाने के लिए अपनी शक्ति का विध्वंसात्मक प्रयोग उनके विरुद्ध करे। ये लोग इस प्रकार के प्रयोगों को निश्शङ्क होकर इसलिए कर सकते थे कि जिन वस्तुओं को वे मूल्यवान् समझते थे उनका सीमित शक्ति से सीमित विनाश ही हो सकता था। वैसे प्रयोगों से वे उन ध्येयों की पूर्ति कर सकते थे जो युद्ध द्वारा विनष्ट होने वाली कुछ वस्तुओं से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण थे। इसके अतिरिक्त सीमित उत्पादन से जीवन की अच्छी वस्तुएँ इतने परिमाण में उत्पादित नहीं की जा सकती थीं कि सब लोग उनमें हिस्सा ले सकें। अतः व्यक्ति और समूह के लिए यह अनिवार्य था कि वे अपनी चाही हुई वस्तुओं को दूसरे हिस्सा माँगने वालों के विरुद्ध हिंसा का प्रयोग करके हथिया लें। दूसरे शब्दों में सीमित उत्पादन के युग में मानवीय समूह का यह विचार था कि उनके सुखी जीवन के लिए युद्ध एक फलदायी साधन है। इस अवस्था में विकसित सामाजिक चेतना का स्वभावतः ही युद्ध के प्रति इसके अतिरिक्त और कोई दृष्टिकोण नहीं हो सकता था कि वह वांछनीय है और कम-से-कम मानव-जीवन में अनिवार्य और अपरिहार्य तो है ही। युद्ध के बारे में यह रुख हमारे सामाजिक मन का ऐसा अविच्छिन्न अंग बन गया है कि केवल युद्ध के नाम को सुनते ही सहज में ही उसके प्रति घृणा का भाव उत्पन्न होने के बजाय अनेक मनुष्य जिनमें विद्वान् और उच्च राजनैतिक पद धारण करने वाले भी सम्मिलित हैं उसे वर्गीय और राष्ट्रीय मतभेदों और झगड़ों को हल करने का प्रभावशाली साधन समझते हैं और उसे संगठित सामूहिक जीवन का स्वाभाविक और निहित अंग मानते हैं। युद्ध के प्रति अपनी प्रकृति-जनित प्रतिक्रियाओं के कारण यह सामाजिक चेतना स्वभावतः ही इस असीम शक्ति

के युग में युद्ध के परिणामों का अन्दाज़ा लगाने में असमर्थ हैं। जैसा कि मैंने अभी कहा है आणविक शक्ति ने मनुष्य को असीम शक्ति प्रदान कर दी है। इसके विध्वंसात्मक प्रयोगों के परिणाम न तो किसी प्रदेश और न किसी काल तक ही सीमित रखे जा सकते हैं। इस प्रकार यह नतीजा अनिवार्य प्रतीत होता है कि आरम्भ होने वाले इस नये युग में मानव के अस्तित्व के लिए युद्ध घातक सिद्ध होगा। किन्तु मुझे भय है कि युद्ध के प्रति अपनी सहज भावना के कारण हमारी सामाजिक चेतना इस सत्य को आसानी से नहीं पहचान सकती और मानव-जीवन की व्यवस्था में आणविक शक्ति के असली महत्त्व को पहचानने में भी असमर्थ रहेगी।

जीवन के अभाव के विरुद्ध जनसाधारण के विप्लव से पैदा होने वाले प्रश्नों का हल भी यह चेतना सफलतापूर्वक नहीं कर सकती। पिछले सहस्रों वर्षों से अनेकों की ग़रीबी और दुःख तथा थोड़े लोगों की सम्पन्नता और संस्कृति मानव-जीवन का अनिवार्य और अपरिहार्य तथ्य है। यह ठीक है कि मानव के प्रति स्नेह और सद्भावना से ओतप्रोत अनेक ऋषियों और महात्माओं ने अनेकों की इस दुःखभरी अवस्था के लिए आँसू बहाये हैं। उनमें से कुछ ने तो इस बात के लिए रोष भी प्रकट किया है कि वे थोड़े लोग उस समय भी जब उनके अनेक भाई हर प्रकार की यातनाओं और विपत्तियों को सह रहे हैं स्वयं आनन्द में लीन हैं। किन्तु चाहे उन्होंने इस परिस्थिति को धैर्य से सहा अथवा धार्मिक जोश से उसके विरुद्ध आग उगली, पर ग़रीबी न तो मिटी और न मिटायी जा सकी और न अभाव के भूत को सदा के लिए दफ़न किया जा सका। सीमित उत्पादन और अभाव की अनिवार्यता की ऐसी स्थिति में हमारी वर्तमान सामाजिक चेतना का जन्म हुआ।

आज से छः वर्ष पहले युद्ध के समाप्त हो जाने पर भी न तो किसी राष्ट्र को और न किसी वर्ग को शान्ति के दर्शन हुए और न सम्पन्नता के। किन्तु इस बात की बजाय कि उनकी वर्तमान दुरवस्था का कारण उनकी सामाजिक चेतना का दोष है उनमें से प्रत्येक यह विश्वास करता है कि वह सब उनके मुख़ालिफ़ राष्ट्रों या वर्गों के दिल के अन्दर बुराई की बहुतायत की वजह से है। कोई दिन ऐसा नहीं होता जब वे एक दूसरे पर बड़े ज़ोर के साथ दोषारोपण या प्रतिदोषारोपण न करते हों। जैसा कि मैंने पहले कहा है हमारे जीवन का रोग आज किसी एक राष्ट्र का पापमय हृदय नहीं है वरन् वह इतिहास-प्रदत्त सामाजिक चेतना का मानव-जीवन की नयी शक्तियों से अनमेल है। आज मनुष्य के सामने जो विपत्ति है वह संगठन की या वस्तुओं की विपत्ति न होकर चेतना की विपत्ति है। दूसरे शब्दों में आज जिस बात की हमें कमी है वह न तो वस्तुओं की कमी है और न संगठन की। वह उस अखण्ड इच्छाशक्ति और सर्वतोमुखी दृष्टि का अभाव है जो हमें अपनी शक्ति और

साधनों का ठीक प्रयोग करने के योग्य बना सके। इसलिए स्वभावतः इस रोग का निदान वस्तुओं या संस्थाओं के जगत् में न होकर चेतना के क्षेत्र में है। गान्धी जी की भाषा में कहा जा सकता है कि आज हमारी सर्वोपरि आवश्यकता संसार की विजय न होकर हृदय का परिवर्तन है। आज सबसे ज्यादा आत्मिक शक्ति की आवश्यकता है, न कि भौतिक शक्ति की।

यही सर्वोपरि आवश्यकता सच्चे विश्वविद्यालय को मानव-जाति का भावी त्राणकर्त्ता बना देती है। अन्य मानवीय संस्थाएँ चाहे उनकी शक्ति या शस्त्र कैसे भी क्यों न हों इस विपत्ति के सामने फलहीन और असहाय हैं। यह ठीक है कि अपने विभिन्न रूपों में राज्य मानव-समाज की इन बुराइयों को दूर करने की कोशिश करता रहा है। इस दिशा में इसे सफलता भी मिली है, किन्तु मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि भूमण्डल पर न्यायपूर्ण समाज को पैदा करने के लिए राज्य को दाई और धाय मानने के परिणामस्वरूप ही जगत् में तानाशाही का जन्म और विकास हुआ है। इसका स्वाभाविक अर्थ ही यह है कि कुछ लोगों का अनेक लोगों पर प्रभुत्व हो। राज्य का प्रधान अस्त्र शक्ति है जो बनाती कम है और बिगाड़ती अधिक है। अतः जहाँ राज्य सामन्तशाही युग की अराजकता को मिटाने में सफल हुआ है वहाँ उसने राष्ट्रों और वर्गों की अराजकता को पैदा कर दिया है और उस अराजकता से आज मानव-जाति का अस्तित्व ही ख़तरे में पड़ गया है। राज्य के समान ही अन्य सामाजिक संस्थाएँ भी मानव को हमारे युग की विपत्ति पर विजय पाने के योग्य नहीं बना सकतीं। इस पर क़ाबू पाने के लिए हमें ऐसी सामाजिक चेतना की आवश्यकता है जो समस्त भूमण्डल में मानवीय हरकतों के हर पहलू और क्षेत्र को ठीक-ठीक तरह से पहचान ले और किसी एक वर्ग या राष्ट्र की खाल के अन्दर ही बन्द न रहे। यथावत् निर्मित और संचालित विश्वविद्यालय के अतिरिक्त और कोई संस्था इस प्रकार की एकीकृत और विश्वव्यापी चेतना की सृष्टि नहीं कर सकती। विश्वविद्यालय का सर्व-प्रथम कार्य मानव की चेतना को ठीक तरह ढालने और रूपित करने और विभेद भरी मानव-जाति की सामाजिक चेतना में अखण्ड एकता पैदा करने का है। हम सब जानते हैं कि प्रत्येक देश और युग में विश्वविद्यालय गत पीढ़ियों के विचारों को नयी पीढ़ियों को देने तथा नये तथ्यों की खोजों और पुराने तथ्यों के आगे विकास का द्विमुखी काम करता रहा है। दूसरे शब्दों में विश्वविद्यालय का यह ऐतिहासिक मिशन रहा है कि प्रत्येक नयी पीढ़ी को सामाजिक चेतना दे और इस प्रकार उसकी अपनी चेतना को ढाले और रूपित करे। किन्तु इस कार्य का एक निहित अंग यह भी है कि एक ही मानवीय समूह में एक साथ ही कार्यशील विभिन्न चेतनाओं का एकीकरण किया जाय। जब अन्य संस्थाओं में से प्रत्येक स्वभावतः दूसरों से अलग करने वाली

संस्था नहीं होती तब विश्वविद्यालय भी अपने में न तो बन्द संस्था है और न हो सकती है।

मेरा विचार है कि नवयुग द्वारा लादे गये इस भार में सफलता प्राप्त करने के लिए विश्वविद्यालय को कई बातें करनी पड़ेंगी। प्रथम तो मानव-समाज के विकास की कहानी के सम्बन्ध में इसे अपना दृष्टिकोण बदलना पड़ेगा। आज तक इस कहानी की प्रधान बात मानव-समाज में शक्ति का स्थान है। इतिहास की लगभग प्रत्येक पुस्तक के अधिक भाग में युद्धों और संघर्षों का वर्णन होता है और उसका बहुत थोड़ा ही अंश सामाजिक और वैज्ञानिक विचारों और आदर्शों के विकास से सम्बद्ध होता है। योद्धाओं को ही, न कि वैज्ञानिकों, दार्शनिकों, कवियों अथवा कलाकारों को उसमें प्रमुख स्थान मिलता है। आज भी इतिहास की अनेक पुस्तकों से यही ध्वनित होता है कि मानव-जीवन के नाटक को गतिमान बनाने वाली और आगे बढ़ाने वाली शक्ति केवल संगठित मौलिक शक्ति ही है। किन्तु हिंसात्मक संघर्ष तो जीवन का दैनिक तथ्य नहीं है। यह तो एक ऐसा अपवाद है जो कभी-कभी ही देखने में आता है। मानव-जीवन का सूत्र एक युद्ध के बाद दूसरा युद्ध न होकर एक सृजनात्मक प्रयास के बाद दूसरा सृजनात्मक प्रयास है। अतः जो अनथक सृजनात्मक और आध्यात्मिक कार्यधारा मानव को भूमण्डल के अन्य सब जीवों से विभिन्न करती है उसी के आधार पर सारे मानव-इतिहास का पुर्ननिर्वचन आवश्यक है। अब यह बात स्वीकार की जा रही है कि इतिहास अन्ततोगत्वा मानव-चेतना की ही कहानी है। मेरे विचार में अब समय आ गया है कि जगत् भर के विश्वविद्यालय मिल-जुलकर इस बात का संगठित प्रयास करें कि मानव की कहानी अपने मूलभूत तत्त्व अर्थात् सृजनात्मक और आध्यात्मिक कार्यधारा के आधार पर ही पुर्ननिरूपित की जाय। सम्भवतः यह बात परम्परागत विचारों से कुछ बेमेल मालूम हो, पर मेरा यह विश्वास है कि मानव कोरी भौतिक शक्तियों का ही प्राणी नहीं है। वह अपने क़ाबू के बाहर की परिस्थितियों का ही असहाय दास नहीं है। उसमें इतनी शक्ति और सामर्थ्य है कि उन परिस्थितियों को इच्छा के अनुकूल ढाल ले या रूपित कर ले और अतीत में उसने ऐसा अनेक बार किया भी है। यह विश्वविद्यालय का धर्म है कि वह उसकी इस सुप्त आत्मा को जाग्रत करे जो उसे अपनी परिस्थितियों का जिनमें से कुछ उसी की सृष्टि हैं, दास रहने के बजाय जैसा कि वह आज है उनका मालिक बना दे।

इस बारे में जो दूसरा परिवर्तन आवश्यक प्रतीत होता है वह यह है कि इतिहास की पुस्तकों का मानक्षेत्र राष्ट्र के बजाय सारा भूमण्डल हो। आज राष्ट्र की ओट मानव को सर्वथा आँखों से छिपा देती है, पर अन्ततोगत्वा संसार के हर कोने में मानव की सृजनात्मक प्रेरणा ने ही उसे सभ्यता और संस्कृति के ताने-बाने को बुनने

के लिए मजबूर किया है। यह ठीक है कि उसमें बहुत प्रकार के धागे है, किन्तु अन्ततोगत्वा ये सब मानव-आत्मा की सृष्टि हैं; यद्यपि इनमें प्रदेश, जलवायु और सामाजिक जीवन ने भी कुछ हद तक अपना रंग मिला दिया है। अतः इतिहास की सब पुस्तकों में प्रधान महत्त्व मानवात्मा को दिया जाना चाहिए और प्रदेश और समूह के प्रभाव को दूसरे दर्जे की महत्ता मिलनी चाहिए।

सामाजिक विकास की समस्या के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन के अतिरि त यह भी आवश्यक है कि विश्वविद्यालय वर्गों का अंग बने रहने के बजाय जन-जीवन से रल-मिल जाय। आरम्भ में जन-जीवन से यह इसलिए सर्वथा अलग था कि साधारण जनों के पास न तो इतना अवकाश था और न इतने आर्थिक साधन कि वे इसमें बराबर प्रवेश कर सकें। यह अलगाव इसलिए बना रहा कि बाजार के कोलाहल और उद्विग्नताओं से दूर रहकर प्रशान्त और पक्षपात-रहित वातावरण में इसके सदस्य सत्य की खोज में लगे रहें। किन्तु अब अवस्था बदल गई है और विश्वविद्यालय मानव-जाति के साधारण जनों की प्रभावयुक्त और सीधी सेवा कर सकता है। यह केवल ऐसा कर ही नहीं सकता, वरन् जन-चेतना की छत्रछाया में साधारण जनों को एकत्रित करने के लिए उसे ऐसा करना भी चाहिए। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि भूतकाल में वर्गों की चेतना साधारण जन की चेतना से बहुत विभिन्न थी, किन्तु उन दोनों के बीच की इस इस मानसिक खाई से उन दिनों वैसे भयावह परिणाम होने का खतरा न था जैसा आजकल है। अगर यह अवस्था बनी रही तो इस बात का पूरा खतरा है कि कहीं सभ्यता का मन्दिर जलकर खाक न हो जाय।

एक और कारण से भी जनसाधारण के जीवन और अरमानों से विश्व-विद्यालय का एकीकरण आवश्यक है। यदि अभाव के विरुद्ध जनसाधारण की वर्तमान क्रान्ति को सृजनात्मक और रचनात्मक दिशा की ओर न ले जाया गया तो यह ज्वालामुखी का ऐसा लावा सिद्ध हो सकता है जो अच्छी-बुरी सभी चीजों का विनाश करदे। इस क्रान्ति को ठीक दिशा में ले जाने की अविलम्ब आवश्यकता है। यदि विश्वविद्यालय, जिसका इस दिशा में अपना कोई निजी स्वार्थ नहीं होना चाहिए, जनसाधारण से सम्पर्क स्थापित करने का निश्चय कर ले तो राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को अपनी पृष्ठभूमि में यथास्थान रखने का कार्य यह सफलता से कर सकेगा और इस प्रकार जनसाधारण को वह सूझ और समझ दे सकेगा जो उनको अपने निर्वाचन सम्बन्धी अधिकारों को ठीक प्रकार से प्रयुक्त करने मे समर्थ करदे।

जनसाधारण से विश्वविद्यालय का मेल इसलिए आवश्यक है कि वह उनमें वैसी चेतना पैदा करे जैसी कि नवयुग के लिए आवश्यक है। हमारे युग की इन दो क्रान्तिकारी शक्तियों का संयोग सम्पन्नता और शान्ति की दुनिया के निर्माण के लिए

तभी होगा जब जनसाधारण भी ऐसी चेतना से अनुप्राणित और संचालित हों।

इस विचारों की क्रान्ति के सर्वोपरि महत्त्व के संदर्भ में ही मैं राष्ट्रमण्डल के विश्वविद्यालयों के असोसियेशन और इन्टर यूनिवर्सिटीज़ बोर्ड के संयुक्त सम्मेलन के महत्त्व को आँकता हूँ। मेरा विचार है कि राष्ट्रमण्डलीय विश्वविद्यालयों के नवनिर्माण में यह असोसियेशन महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकती है। मेरी यह दृढ़ आशा है कि आपके विचार-विनिमय से विश्वविद्यालयों को यह प्रेरणा मिलेगी कि वे आगत युग में विचार-कार्य के क्षेत्र में नेता होने के अपने उचित स्थान को पहचानें और ग्रहण करें और वह आध्यात्मिक और चारित्रिक शक्ति तथा सूझबूझ प्रदान करें जो उस असीम शक्ति और साधनों का जिन्हें ज्ञान ने मनुष्य के हाथों में दिया है उचित नियन्त्रण और संचालन कर सकती हैं।

३

शिक्षा का माध्यम[1]

आपने मुझे जो इज्जत बख्शी है उसके लिए मैं आपको धन्यवाद देता हूँ और साथ ही आपको यक़ीन दिलाना चाहता हूँ कि मैं हमेशा ही इसकी क़द्र करूँगा, क्योंकि यह इस विश्वविद्यालय ने मुझे बख्शी है। यह हमारे देश का सबसे पहला विश्वविद्यालय है जिसने हमारे देश की भाषाओं में से एक को शिक्षा का माध्यम ही नहीं बनाया बल्कि जिसने विज्ञान और कला-सम्बन्धी सभी विषयों पर किताबें लिखवाने और छपवाने के बारे में भी बड़ा तामीरी काम किया है। अपने तरीक़े पर और शिक्षा-माध्यम के रूप में चुनी गई भाषा की अपनी सीमाओं के अन्दर जो काम यहाँ हुआ वह मुझे काफ़ी हिम्मत बँधाने वाला लगा। इस सवाल में मैंने उसी वक़्त से दिलचस्पी लेनी शुरू कर दी थी जब से कि मैंने सार्वजनिक कामों में हिस्सा लेना शुरू किया था। मुझे इस बात की ख़ुशी है कि इस बारे में अब जनता में काफ़ी जाग्रति हो गई है और आजकल आम तौर पर शिक्षाशास्त्री और पढ़े-लिखे लोग यह मानते हैं कि अगर हमारे तालीम के काम में किसी तरह की ग़ैर-ज़रूरी और बचाये जा सकने वाले समय या ताक़त की बर्बादी नहीं होनी है तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि शिक्षा देशी भाषाओं में दी जाय। फिर भी हमने अपने सामने जो उद्देश्य रख छोड़े हैं उनको प्राप्त करने के लिए भाषा-नीति के सम्बन्ध में हमारे लोगों के कुछ तबक़ों के विचारों में काफ़ी धुँधलापन है।

आपकी अनुमति से मैं यहाँ उसी सम्बन्ध में कुछ कहना चाहता हूँ। मुझे यक़ीन है कि इस देश में हरएक यह जानता है—कम-से-कम मैं यह चाहता हूँ कि हरएक शख्स यह जाने—कि जिस संविधान को भारत की प्रभुतासम्पन्न जनता ने अपनी संविधान-सभा के द्वारा स्वीकृत किया है उसके अधीन हमारा यह कर्तव्य है कि हम इस देश में लोकतन्त्रात्मक समाज की स्थापना करें अर्थात् ऐसा समाज क़ायम करें जिसमें हरएक इन्सान और हरएक जमात को अपनी शख्सियत में छुपी हुई सारी ख़ूबियों को उभाड़ने और हासिल करने के पूरे-पूरे अधिकार और अवसर हों और जिसमें उनमें से हरएक को संघ और राज्य की सरकारों की नीति के बनाने में औरों के बराबर ही मौक़ा हो। शिक्षा-माध्यम या माध्यमों की बात सोचते समय हम सबको

---

१. भाषण : उस्मानिया विश्वविद्यालय का विशेष समावर्तन-समारोह।

अपने इस लाजमी कर्तव्य को अपने ध्यान में बराबर रखना चाहिए। यह कहने की मुझे आवश्यकता नहीं कि शिक्षा खुद बड़ी ताक़त है और कम-से-कम इससे महरूम शख्स का न तो अपने पूर्ण विकास का ही और न अपने देश और इलाक़े की सरकार की नीति और कामों पर ही अच्छा असर डालने का कोई मौक़ा मिल सकता है। इस-लिए यह बात साफ़ तौर पर जाहिर है कि शिक्षा के तरीक़े और जरिये ऐसे नहीं होने चाहिएँ जो एक आदमी को दूसरे आदमी या एक जमात को दूसरी जमात के मुकाबले में किसी तरह का बेजा फ़ायदा पहुँचाते हों।

इस तरह जाहिर है कि प्राथमिक, माध्यमिक और विश्वविद्यालय की अर्थात् हर प्रकार की शिक्षा हरएक अच्छे-खासे बड़े भाषावार जमात के लोगों को उनकी अपनी भाषा ही के द्वारा दी जानी चाहिए। तभी दूसरे जमातों के मुक़ाबले में उस जमात को शिक्षा के लाभ प्राप्त करने में ज्यादा समय, रुपया और ताक़त खर्च न करनी पड़ेगी। और दूसरी किसी तरह की नीति का परिणाम यही होगा कि उस जमात के मुक़ाबले में, जिसकी भाषा में इसके बच्चों को शिक्षा लेनी पड़ती है, यह जमात किसी क़द्र बुरी हालत में पड़ जायगी। इसका मतलब यही है कि हर भाषावार इलाक़े में नीची से लेकर ऊँची-से-ऊँची शिक्षा उसी इलाक़े की भाषा में दी जानी चाहिए।

पर साथ ही मैं यह बात भी जोरदार शब्दों में कह देना चाहता हूँ कि ऐसा करना तभी सम्भव होगा जब भाषावार जमात अच्छी-खासी बड़ी हो और एक ही खास अलग इलाक़े में बसी हुई हो। दूसरे इलाक़ों के मुख्तलिफ़ हिस्सों में बहुत छोटी-छोटी टुकड़ियों मे बिखरे हुए लोगों की सबसे नीचे दर्जे की शिक्षा के अलावा और तरह की शिक्षा के बारे में यह माँग जायज नहीं हो सकती कि उन इलाक़ों की सरकारें उनके बच्चों की मातृभाषा में उनकी हर तरह की शिक्षा का प्रबन्ध करें। इस तरह की माँग के आर्थिक और अन्य प्रकार के नतीजों का अन्दाजा सहज लगाया जा सकता है। भारत के भली प्रकार से जाने हुए भाषावार इलाक़ों में से हरएक में दूसरी भाषाओं के बोलने वाले लोग छोटी-बड़ी संख्या में मिलते ही हैं। अगर इस माँग के मुआफ़िक़ उन इलाक़ों के इन हर भिन्न भाषा-भाषी लोगों के बच्चों की शिक्षा के लिए उस इलाक़े के हर स्कूल, हर कालेज और हर विश्वविद्यालय में अलग-अलग प्रबन्ध करना पड़े तो जाहिर है कि बेहिसाब खर्च होगा। साथ ही राजनीतिक दृष्टि से यह मुनासिब होगा कि किसी इलाक़े में इस तरह से दूसरी जबान वाली जमात के बिखरे हुए इने-गिने लोग उस इलाक़े के लोगों से अलग बने रहने और ऐसे विभेदों को, जिनसे उनके चारों ओर के लोगों की बहुत बड़ी संख्या को उनसे द्वेष और ग़लत-फ़हमी हो सकती है, बनाये रखने के बजाय उन लोगों में घुल-मिल जायँ। आर्थिक

और राजनीतिक असलियत के इस पहलू को लोग ठण्डे दिल से समझ ले तो इस देश की भाषा की उलझन बड़ी हद तक दूर हो जायगी।

हर इलाक़े की भाषा का ऐसा विकास करना और उसके साहित्य के भण्डार को इस तरह बढ़ाना आवश्यक है कि वह आधुनिक और प्राचीन यानी हर प्रकार के ज्ञान का अच्छा वाहन और भरा-पूरा ख़ज़ाना बन जाय और हर इलाक़े की सरकार या सरकारों का यह कर्तव्य है कि जहाँ तक सरकार के किए कुछ हो सकता हो वहाँ तक वे इस तरह के विकास में सहायता करें और प्रोत्साहन दें। यह किसी भी भाषा की मौजूदा शक्ल और शब्दावली की बुनियाद पर ही आगे तामीर करने से और दूसरी देशी भाषाओं से सहज और स्वाभाविक रीति में हो जो ख़ूबियाँ अपनायी जा सकती हों उनसे इस भाषा को सजाकर चलने से अच्छी तरह किया जा सकता है। इस तरह का भाषा-शुद्धि की कोशिश कि शब्दों, मुहावरों या किन्हीं व्याकरण के नियमों का बहिष्कार केवल इसी कारण कर दिया जाय कि वे बाहर से उधार आ गये थे और शुरू में उस स्रोत से नहीं निकले थे जिससे कि वह भाषा स्वयं निकली है महज़ नाकामयाब ही न होगी बल्कि भाषा को भी ग़रीब बना देगी। इसके अलावा हमें अब अपनी ताक़त को हर तरह से सहेजकर इसलिए रखना है कि हम उसे अपने देश से ग़रीबी और अशिक्षा के मिटाने के ज़रूरी कामों में लगा सकें और इसलिए हम उसको ऐसे किसी काम में, जो अगर गड़बड़ करने वाला न हो तो बिलकुल ग़ैर-ज़रूरी तो हो ही, ख़र्च नहीं कर सकते। ऐसी भाषा-शुद्धि के पक्ष में मुझे तो कोई भी वजह दिखाई नहीं देती, क्योंकि आख़िर ज़बान तो महज़ ज़रिया है और अगर किसी लफ़्ज़ को जनता बख़ूबी समझती है तो कोई वजह नहीं कि उसको इसी आधार पर निकाल बाहर किया जाय कि वह विदेशी है। इसके अलावा भाषा की बढ़ोतरी ऐसी दिशा में होनी चाहिए जिससे वह अपने इलाक़े के अधिकांश लोगों को मान्य हो और उनकी समझ में आती हो। उसकी कथावस्तु, उसकी शैली, उसका शब्दकोष साधारण जनता के जीवन और बोली के ज़्यादा नज़दीक होना चाहिए। मेरा यक़ीन है कि समाज की और संस्थाओं के समान ही भाषा को जनता की गोद का सहारा लेने से काफ़ी फ़ायदा होगा।

इलाक़ों की भाषाओं के विकास और बढ़ोतरी की बड़ी आवश्यकता के अतिरिक्त एक और सवाल है जिस पर विचार करना ज़रूरी है। हमारा देश बहुभाषा-भाषी देश है। हमें एक ऐसी आम भाषा की आवश्यकता है जिसके द्वारा हम मुख़्तलिफ़ इलाक़ों में और राष्ट्रीय मामलों में कारबार चला सकें। पूरे सोच-विचार के बाद संविधान सभा ने यह निश्चय किया कि वह भाषा देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिन्दी भाषा है और संघ के सरकारी प्रयोजनों के लिए उसके अंकों का रूप अन्तर्राष्ट्रीय

अंकों का ही रूप होगा। यह सर्वसम्मत समझौता था और सब लोगों के हितों की समुचित सुविधा का ध्यान रखकर किया गया था। मेरी समझ में किसी शख़्स या जमात के लिए यह सोचने की कोई वजह नहीं है कि इस निर्णय से उसके या उसकी जमात के हितों का किसी तरह का नुक़सान होगा। इस सम्बन्ध में मैं समझता हूँ कि मेरे लिए यही कहना काफ़ी होगा कि हर भाषावार इलाक़े की शिक्षा-व्यवस्था में संघ-भाषा हिन्दी के पढ़ाने का प्रबन्ध रहना चाहिए। इस बात को ख़ास तौर से कहना इसलिए जरूरी है कि अहिन्दी भाषा-भाषी लोग इस बारे में किसी तरह से दूसरे लोगों के मुक़ाबले में अपने को किसी क़द्र ख़राब स्थिति में न पायें। अहिन्दी भाषा-भाषियों की शिक्षा-व्यवस्था में कैसे और किस दर्जे में हिन्दी शिक्षा को दाख़िल किया जाय इस बात को बिना देर किये तय कर लेना चाहिए और जो भी योजना तय हो, उसे अमल में लाने के लिए क़दम उठाये जाने चाहिएँ जिससे संविधान ने जो मियाद मुक़र्रिर की है उसके ख़त्म होते-होते हम संघ के सरकारी प्रयोजनों के लिए अंगरेज़ी के बिना भी काम चला सकें। हैदराबाद राज्य में तीन भाषायें हैं जो लगभग अलग-अलग इलाक़ों के लोग बोलते हैं और यह राज्य इस बात की बड़ी कोशिश करता रहा है कि उर्दू का पूरा विकास किया जाय। मैं उर्दू को उस भाषा की जिसे संविधान ने संघ-भाषा मान लिया है एक शैली या तर्ज़ और रूप ही समझता हूँ; हालाँकि इसकी अपनी लिपि और अपना अलग शब्द-भण्डार है। इसलिए इस राज्य को इस बारे में वैसे ही कुछ सवाल सुलझाने हैं जैसे कि बहुभाषी सारे देश को सुलझाने हैं। अपने भिन्न इलाक़ों की तीन भाषाओं से भिन्न एक भाषा को राज्य की ज़रूरतों के लिए काम में लाने में तरक़्क़ी करने का इस राज्य को सौभाग्य प्राप्त हुआ है। हमें यहाँ इस तरह जो तजुर्बे हुए उनकी भी हिफ़ाजत करनी चाहिए और उनसे जो भी फ़ायदे और सबक़ मिल सकते हैं लेने चाहिएँ। मैं यह महसूस करता हूँ कि हमारे लिए ये बड़े काम के साबित होंगे क्योंकि हम इस बुनियाद पर आगे काम बढ़ा सकते हैं। इस विश्वविद्यालय का यह फ़र्ज़ और यह ख़ुशक़िस्मती है कि वह इस बुनियाद पर ऐसी इमारत बनाये जो इसकी इज्जत बढ़ाये और जिससे हमारे देश का पूरा-पूरा फ़ायदा हो।

४

शिक्षा और सामञ्जस्य[1]

इस बात से तो कोई इन्कार नहीं कर सकता कि आज के भारत और संसार—दोनों के ही सामने ऐसी विषम समस्याएँ हैं जिनके सुलझाने के लिए न केवल वयोवृद्ध लोगों के अनुभव और गुरुता की ही जरूरत है, बल्कि आवश्यकता है युवकों के अदम्य उत्साह, ज्वलंत आशाओं और स्फूर्तिदायिनी शक्ति की भी। यदि यह कहा जाय कि संसार के नवनिर्माण की जिम्मेदारी इन्हीं के सर पर है तो कुछ अतिशयोक्ति न होगी। कम-से-कम इतनी बात तो स्पष्ट है कि इस नवनिर्माण में कमर कसकर जुट जाना इनके अपने निजी हित में ही है, क्योंकि इनके भावी जीवन का रूप-रंग इसी पर निर्भर करेगा कि आज की समस्याओं को इन्होंने कितनी तत्परता और किस खूबी से सुलझाया।

मैं समझता हूँ कि इन लोगों के लिए यह सौभाग्य की बात है कि इस जिम्मेदारी को सँभालने के लिए मानसिक और चारित्रिक तैयारी करने का अवसर इन्हें दिल्ली जैसे नगर के विश्वविद्यालय में मिला। यह तो सर्वसम्मत बात है कि विद्यार्थियों को जितना ज्ञान शिक्षकों के लैक्चरों और पुस्तकों से प्राप्त होता है उतना ही उस सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण से अनजाने और सहज ही मिलता रहता है जिसके बीच रहकर वे अपना जीवन यापन करते हैं। यह वातावरण जितना ही अच्छा होता है उतना ही विद्यार्थियों का जीवन सुसंस्कृत और सभ्य बनता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो इन युवक-युवतियों को यहाँ रहने और पढ़ने के कारण अमूल्य सांस्कृतिक लाभ हुआ है, क्योंकि दिल्ली के वातावरण में कुछ ऐसी बातें हैं जो सम्भवतः अन्यत्र नहीं मिलतीं। यह बात निःसंकोच कही जा सकती है कि दिल्ली के गली-कूचों में भारत का सारा इतिहास समूर्त्त होकर बसा हुआ है और इसके निकट के खण्डहरों में तो शताब्दियों की प्रतिध्वनि सुनाई देती रहती है। भारत में और भी बहुत से शहर हैं जो ऐतिहासिक दृष्टि से पर्याप्त महत्त्व रखते हैं, पर दिल्ली का इतिहास अनोखा है।

यहाँ इतिहास की तीन धाराओं का संगम हुआ है—ऐसी तीन धाराओं का

१. भाषण : दिल्ली विश्वविद्यालय का २८वाँ समावर्तन-समारोह, ९ दिसम्बर, १९५०।

जो दुनिया के विभिन्न क्षेत्रों से निकलकर अनेक शताब्दियों और देशों में बहती हुई भारत के इस ऐतिहासिक नगर में मिलकर एक धार बन गई है और भारतवासियों के जीवन को उर्वर बना रही है और बनाती रहेगी। इन धाराओं में प्रधान और सबसे प्राचीन वह धारा है जो वैदिक काल या उससे भी पूर्व हमारे देश में बहती रही है और जिसका पुनीत जलामृत हमारे देशवासियों की मानसिक प्यास को सदा तृप्त करता रहा है। उसने हमारे जीवन को हरिश्चन्द्र के वचन-पालन, दधीचि के आत्मोत्सर्ग, शिवि की दया, कर्ण की दानवृत्ति, राम के राजधर्म, कृष्ण के निस्पृह कर्मयोग, बुद्ध की अहिंसा और अशोक के धर्मचक्र के आदर्शों से समृद्ध बनाया है। हमारे जीवन का ऐसा कोई अंश नहीं जिसमें उसका प्रभाव बिंध न गया हो और इस कथन में अत्युक्ति न होगी कि जान में या अनजान में वह आज भी प्रतिक्षण हमारे जीवन और विचारों की दिशा को निश्चित करती है। दूसरी धारा वह है जो आज से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व अरब से बहती हुई हमारे देश में आई और इसी दिल्ली शहर में उस पहली धारा से मिल गई। कौन नहीं जानता कि इसी नगर में उस मिलीजुली भाषा, वेशभूषा, कला, साहित्य और विचार-शैली का जन्म हुआ जो यहाँ के हिन्दू-मुसलमानों की है। उसने हमें कबीर का अनहद नाद सुनाया और सुनाई जायसी की प्रेमगाथा। उसने हमें वह शुभ्रश्वेत प्रस्तर-अश्रु दिया जिसमें शाहजहाँ का शोक मूर्त्तिमान होकर चिरस्थायी हो गया है। आज वह धारा हमारे जीवन का अभिन्न अंग बन गई है। उसी प्रकार कुछ शताब्दी पूर्व तीसरी धारा सुदूर पश्चिम से समुद्र पार करती हुई हमारे देश में आई और आकर इन दो धाराओं के संगम-स्थल नयी दिल्ली में उनमें मिल गई। उसने हमारे जीवन की गति को तीव्रतम कर दिया, उसके दायरे को बढ़ा दिया और नये विज्ञान और विधियों से हमारे जीवन को नियमित कर दिया। अतः इनमें से प्रत्येक धारा ने हमारी संस्कृति को समृद्ध और उन्नत बनाया है। इन्हीं तीनों धाराओं के इस संगम-तीर्थ दिल्ली में रहने और पढ़ने के कारण आप लोगों को अनायास ही इनके रंग में रंगे जाने का पूरा-पूरा मौक़ा मिला है और मैं समझता हूँ कि आप इनके रंग में रंग भी गये होंगे।

दिल्ली केवल इन ऐतिहासिक धाराओं का ही संगम नहीं, बल्कि भारत और दुनिया के विभिन्न प्रदेशों से बहकर आने वाली जातीय धाराओं का भी सगम-क्षेत्र है। यहाँ भारत की चारों दिशाओं के लोग बसे हुए हैं और भारत का ऐसा कोई प्रदेश या राज्य नहीं जहाँ के अधिवासी इस दिल्ली में व्यापार या वृत्ति या नौकरी के लिए आकर बसे हुए न हों। यह कहना अनुचित न होगा कि यदि कोई हमारे बहुभाषा-भाषी और विभिन्न रस्म-रिवाज वाले देश का सूक्ष्म रूप देखना चाहे तो उसके लिए दिल्ली देख लेना ही काफ़ी होगा। यहाँ उसको पुरातन और नवीन, उत्तर और दक्षिण, पूर्व

और पश्चिम, हर प्रकार के भारत के एक साथ ही दर्शन हो जायेंगे। इतना ही नहीं आज तीन वर्ष से तो इस दिल्ली नगरी में अमरीका और रूस, इंगलैंड और चीन, फ्रांस और बर्मा आदि सभी देशों के लोगों से सम्पर्क होता है। सचमुच ही दिल्ली एक सार्वभौमिक संस्कृति और समाज वाला नगर है। ऐसे नगर में विद्याध्ययन करने से आपको सहज ही भारत और संसार की विभिन्न जाति वालों से निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिला होगा।

मैं समझता हूँ कि आप लोग स्वयं विभिन्न प्रदेशों और जातियों के हैं और इस विश्वविद्यालय में कंधे से कंधा मिलाकर पढ़ते-खेलते और आनन्द मनाते रहे हैं। अतः आपको सक्रिय रूप में इस बात का अच्छी तरह से अहसास हो गया होगा कि हमारे भविष्य के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि इतिहास की ये तीनों धाराएँ दिल्ली के संगम-तीर्थ में एक होकर हमारे देश मे बहें और प्रत्येक ग्राम और नगर और प्रत्येक घर और कार्यालय को जीवन और स्फूर्ति प्रदान करें। हमारे देश के विभिन्न प्रदेशों और जातियों के लोगों के मनों को इस दिल्ली के द्वारा एक सूत्र में—ऐसे सूत्र में जो हवा से भी पतला है और इस्पात से भी मजबूत—बँध जाना चाहिए। कम-से-कम मैं तो यह दृढ़ता से कह सकता हूँ कि सांस्कृतिक और प्रादेशिक सामञ्जस्य की ये महान् समस्याएँ हमारे सामने है जिन्हें हमें पूरी लगन और सूझ-बूझ से हल करना है। मैं समझता हूँ कि इनके हल करने में दिल्ली जैसे विश्वविद्यालय और इसके विद्यार्थियों और स्नातकों का पर्याप्त महत्त्वपूर्ण भाग होना चाहिए। दिल्ली नगर का सांस्कृतिक हृदय होने के नाते इस विश्वविद्यालय का वही सांस्कृतिक और प्रादेशिक चतुराननी रूप है जो दिल्ली का है। इसमें भारत के हर कोने से आये विद्यार्थी हैं। इसमें इतिहास की इन तीन धाराओं में से अलग-अलग एक या एक से अधिक धाराओं में रंगे युवक-युवती हैं—इसमें पुरातन भी है और नवीन भी। अतः इसकी तो यह अपनी समस्या है कि यह विभिन्न संस्कृतियों, विभिन्न ऐतिहासिक परम्पराओं और विभिन्न जातियों वाले विद्यार्थियों के जीवन मे और मानसिक गठन में सामञ्जस्य स्थापित कर दे और इस प्रकार आन्तरिक सामञ्जस्य वाले युवक और युवतियों को सहस्रों की संख्या में भारत के प्रत्येक प्रदेश में सांस्कृतिक और प्रादेशिक सामञ्जस्य का अग्रदूत और वीर सिपाही बनाकर भेजे। अपनी आन्तरिक शान्ति और अपने कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए ही नहीं, वरन् अपने शिक्षा-धर्म को निभाने के लिए भी इस विश्वविद्यालय और इसी का क्यों भारत के सारे विश्वविद्यालयों का कर्तव्य है कि वे इस दिशा में और इन समस्याओं को तुरन्त सुलझाने के लिए कार्यरत हो जायँ।

शिक्षा का मुख्य ध्येय यही है कि प्रत्येक आदमी के आन्तरिक जगत् मे सामञ्जस्य हो और उसका बाह्य जगत् के अन्य प्राणियों से भी सामञ्जस्य हो। यद्यपि बाहरी तौर

पर देखने में तो कोई भी आदमी एक ही लगता है क्योंकि उसके न तो दो मुख दिखाई देते हैं और न आठ हाथ-पाँव, किन्तु यदि साधारण तौर पर एक दिखने वाले आदमी के आन्तरिक गठन को देखा जाय तो पता चलेगा कि उस एक के बदले में अनेक आदमी एक साथ ही मौजूद हैं। हमारे पूर्वजों ने दशानन, पंचानन, चतुरानन इत्यादि देवताओं, असुरों और आदमियों की जो कल्पना की थी, वह केवल थोथी कल्पना ही न थी। उसके पीछे यह मनोवैज्ञानिक सत्य भी था कि ऊपर से दिखने में चाहे कोई कितना ही एक क्यों न लगता हो, किन्तु सम्भव है कि उसके अन्दर अनेक व्यक्ति एक साथ ही मौजूद हों। एक व्यक्ति में अनेक व्यक्ति होने की बात इसीलिए पैदा होती है कि मनुष्य की विवक-बुद्धि, वासनात्मक बुद्धि और भौतिक इन्द्रियों में ऐसा चिर और सहज सामञ्जस्य नहीं है कि वह कभी टूटे ही नहीं। अभ्यास और ज्ञान द्वारा ही उसमें यह सामञ्जस्य क़ायम किया जा सकता है। ज्ञान, कर्म और भक्ति द्वारा इस सामञ्जस्य को स्थापित करने को ही हमारे यहाँ योग कहा जाता था। एक दफ़े योग द्वारा सामञ्जस्य स्थापित हो जाने पर ही यह सामञ्जस्य सर्वदा के लिए क़ायम नहीं हो जाता। प्रतिक्षण इसको बनाये रखने के लिए योग को साधना और तपस्या करनी पड़ती है। क्षण भर की भी ग़फ़लत से वह जीवन की कमाई खो सकता है। क्योंकि उतनी ही देर में यह सामञ्जस्य टूट सकता है और वासना उस पर विजय पा सकती है। इसीलिए तो हमारे यहाँ कहावत है कि—या जागे कोई जोगी या जागे कोई भोगी—सच तो यह है कि योगी कभी सोता ही नहीं। उसको सतत जाग्रत रहना होता है ताकि उसका यह आन्तरिक सामञ्जस्य, जिसके द्वारा उसका जीवन सफल होता है और उसे चिरस्थायी आनन्द और सत्य प्राप्त होता है, किसी क्षण भी न टूटे। जिस बात को हमारे पूर्वज योग कहते थे उसी को अपने विद्यार्थियों को देने का काम विश्वविद्यालयों का होना चाहिए। आज के शिक्षाशास्त्री इस बात को मानते हैं कि शिक्षा का ध्येय यही है कि विद्यार्थी के आन्तरिक जगत् में पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित हो जाय और उसका व्यक्तित्व विभक्त और टुकड़े-टुकड़े न रह जाय।

इस प्रकार के विभक्त व्यक्तित्व का ख़तरा वैसे तो साधारणतया प्रत्येक समाज में और प्रत्येक समूह में बना ही रहता है, किन्तु यह उस समाज में कहीं ज्यादा हो जाता है जहाँ एक साथ ही कई संस्कृतियाँ, कई ऐतिहासिक परम्पराएँ और कई सामाजिक शृंखलाएँ एक स्थान पर ही मौजूद होती हैं। हमारे देश में इस प्रकार की विभिन्नतायें मौजूद हैं और इसलिए हमारे देश में इस बात का पूरा-पूरा ख़तरा बना रहेगा कि हमारे करोड़ों नर-नारियों का व्यक्तित्व विभक्त बना रहे। यदि कहीं यह बात रही तो हमारा समाज और देश आन्तरिक कलह, द्वेष और अज्ञात मतभेद का शिकार बने रहेंगे और किसी प्रकार की उन्नति और प्रगति न कर सकेंगे।

अतः हमारे लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम अविलम्ब ऐसी कार्यवाही करें जिससे हमारे देश का यह ख़तरा जल्द-से-जल्द दूर हो। यह बात तो स्पष्ट है कि इस खतरे को पुलिस के डण्डे और फ़ौज की बन्दूक से दूर नहीं किया जा सकता और न इसको किसी क़ानून या अदालत के ज़रिये मिटाया जा सकता है। अगर यह दूर किया जा सकता है तो केवल सत्-शिक्षा के द्वारा और यह काम हमारे विश्वविद्यालय ही कर सकते हैं।

दुर्भाग्यवश जो विश्वविद्यालय हमारे यहाँ क़ायम हैं उनकी स्थापना ऐसे युग में हुई थी जब शिक्षा उतने से ही पर्याप्त समझी जाती कि थी वे विद्यार्थियों को अंगरेज़ी भाषा-साहित्य और भारत में लागू अंगरेज़ी क़ानून का इतना ज्ञान करा दें कि वे या तो सरकारी दफ़्तरों और नौकरियों के काम करने के लिए योग्य हो जायें या अंगरेज़ी अदालतों में वकालत और पैरवी कर सकें। इसीलिए भारत के लगभग सभी विश्वविद्यालयों में अंगरेज़ी भाषा शिक्षा का माध्यम रखी गई और अंगरेज़ी साहित्य अनिवार्य विषय रखा गया। यह कैसी विडम्बना थी कि भारत के रहने वालों के लिए अपना साहित्य पढ़ना तो केवल ऐच्छिक विषय था, पर अंगरेजों का साहित्य पढ़ना अनिवार्य था. यह बात लगभग आज तक चली आ रही है। आज भी अधिकतर विश्वविद्यालयों में अंगरेज़ी भाषा और अंगरेज़ी साहित्य अनिवार्य विषय बने हुए हैं। मेरा न अंगरेज़ी से कोई द्वेष है और न अंगरेज़ी साहित्य के प्रति कोई उदासीनता। मैंने स्वयं अपने विद्यार्थी जीवन में अंगरेज़ी भाषा और साहित्य में ही सर्वोच्च उपाधि हासिल की थी, किन्तु अंगरेज़ी भाषा और साहित्य में कितनी ही ख़ूबी क्यों न हो, इस बात से तो कोई इन्कार नहीं कर सकता कि उसके अनिवार्य अध्ययन का और अपने साहित्य और संस्कृति की उपेक्षा का यह परिणाम हुआ कि हमारे यहाँ के विद्यार्थियों को विद्याध्ययन में रटने की बुरी आदत पड़ गई। हमारे यहां के विद्यार्थियों के खिलाफ़ यह शिकायत बराबर सुनी जाती है कि वे रट्टू पीर होते हैं। पर मैं समझता हूँ कि वे रट्टू इसलिए नहीं हैं कि उनकी मानसिक और शारीरिक बनावट और देशों के विद्यार्थियों से भिन्न है, बल्कि इसलिए कि उस शिक्षा का उनके दैनिक जीवन से कोई सम्बन्ध और सम्पर्क न था जो उन्हें इन विश्वविद्यालयों में दी जाती थी। इन विद्यालयों की दीवारों के बाहर उन्हें अपना दैनिक जीवन, अपने पूर्वजों की आस्था, विश्वास, संस्कृति और भाषा छोड़ आनी पड़ती थी। यह ठीक है कि भारत की ही भूमि पर और भारत के ही आकाश के नीचे इन विद्यालयों की दीवारें और इमारतें बनी हुई थीं, किन्तु उनमें भारत न था। उनमें या तो इंगलेंड था या यूरोप। वहाँ पढ़ाई जाने वाली बातों का उनके अपने निजी घरेलू और शहरी जीवन से कोई सम्पर्क न होने के कारण उन्हें सहज में याद रखना सम्भव न था। उन्हें तो उन बातों को

ज़बरदस्ती अपनी स्मृति में ठूंसना था और इस कारण सिवाय रटन्त के और वे कुछ न कर सकते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि हमारे यहाँ के विद्यार्थियों और युवकों में वह सृजनात्मक शक्ति और वह अदम्य आत्मविश्वास न रहा जिसके बल पर भारतीयों ने विज्ञान, साहित्य, कला और धर्म के क्षेत्रों में शताब्दियों तक अपूर्व कार्य किया था और जिसके बल पर उन्होंने एशिया के महाद्वीप में संस्कृति और धर्म की गंगा उस समय बहा दी थी जब न यात्रा के सहज साधन थे और न प्रोपेगण्डा के ऐसे प्रभावशाली यन्त्र जसे आजकल मनुष्य के हाथ में हैं।

इससे भी कहीं हानिकर परिणाम यह हुआ कि हमारे शिक्षित भाइयों का व्यक्तित्व विभक्त व्यक्तित्व होने लगा और उन्हें अपने जीवन में पेट भरने के अतिरिक्त और कोई प्रयोजन न दिखाई पड़ने लगा। इस प्रयोजनहीनता के कारण हमारे देश की कितनी हानि हुई और इन शिक्षित भाइयों का जीवन कितना नीरस हो गया इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। अपने इस नीरस जीवन को रसमय बनाने के लिए इन्हें सिवाय ब्रिज और ताश या टैनिस के और कोई मार्ग दिखाई नहीं दिया। यह बात देखने में अचरजभरी अवश्य लगती है कि सरकारी नौकरी करते हुए भी अंगरेज़ सिविलियन इतिहास, समाज, शासन इत्यादि इत्यादि क्षेत्रों में पर्याप्त लेखन-कार्य कर सके, पर भारतीय शिक्षित राजकर्मचारियों में से इक्के-दुक्के को ही ऐसा करने की प्रेरणा हुई। पर मैं समझा हूँ कि यह बात इसीलिए हुई कि अंगरेज़ों के व्यक्तित्व में उतनी विभक्ति न थी, जितनी कि अंगरेज़ी शिक्षित भारतीयों में थी और इसीलिए ये भारतीय अपनी इस विभक्तता के कारण पूर्णतया मानसिक अपाहज बन गये थे। जहाँ विश्व-विद्यालयों का यह कार्य होना चाहिए कि वे व्यक्तित्व में सामञ्जस्य क़ायम करें, वहाँ हमारे विश्वविद्यालय उसको अंगरेज़ी भाषा और अंगरेज़ी साहित्य की कुल्हाड़ी से टुकड़े-टुकड़े करते रहे। हाँ, वर्षों की इस कार्यवाही के पश्चात् हमारे यहाँ कुछ भारतीय ऐसे हो गये हैं जो भारत की भूमि में भी केवल इंगलेंड के वातावरण के ही सम्पर्क में आते हैं। उनका अपना घरेलू रहन-सहन, दाम्पत्य जीवन, घर और बाज़ार की बातचीत और ख़त-किताबत की लिखने-पढ़ने की भाषा, खाने-पीने का ढंग, वेषभूषा सभी कुछ अंगरेज़ी हो गई है और इस कारण आरम्भ में जो अंगरेज़ी साहित्य और अंगरेज़ी भाषा से व्यक्तित्व में विभक्तता होती थी, उसकी मात्रा उन कुछ लोगों के जीवन में कम होने लगी, पर फिर भी वह न तो बिलकुल दूर हो सकती थी और न हुई।

बौद्धिक क्षेत्र में इसके कारण जो हानि हुई, उससे कहीं अधिक हानि इससे सामाजिक क्षेत्र में हुई। इन विश्वविद्यालयों के शिक्षित लोगों को उन लोगों के प्रति उदासीनता या उपेक्षा-भाव अथवा घृणा तक होने लगी जो अंगरेज़ी शिक्षा, साहित्य और संस्कृति से सर्वथा अनभिज्ञ थे। इसलिए भारत के नगर-नगर में संस्कृति की ऐसी

अभेद्य दीवार खड़ी होने लगी जिसकी एक तरफ़ इंगलेंड के मानस पुत्र थे और दूसरी ओर भारतीय। ग़रीब-अमीर की दुनिया तो अलग होती ही थी अब अंगरेज़ी पढ़ों और बे अंगरेज़ी पढ़ों की दुनिया भी अलग होने लगी और इस प्रकार जो सामूहिक उद्योग और प्रयास किये जा सकते थे उनकी सुविधा न रही। इस दीवार के दोनों ओर रहने वालों में आपस में शंका और द्वेष का वातावरण बढ़ने लगा और एक दूसरे का परिहास उड़ाने और एक दूसरे की मुख़ालफ़त करने की भावना बढ़ने लगी। जहाँ नागरिक जीवन में इस प्रकार की विभक्तता पैदा हुई वहाँ ग्रामीण जीवन तो विनष्ट ही हो गया। ग्रामों मे अंगरेज़ी रहन-सहन बरतने वालों की संख्या अधिक न हो सकती थी क्योंकि उस तरह के रहन-सहन में अधिक ख़र्च पड़ता है और ग्रामवासियों के पास इतना फालतू धन था ही कहाँ ? साथ ही ग्रामों में वे सुविधाएँ भी न थीं जो अंगरेज़ी पढ़े-लिखे लोग चाहते थे। नतीजा यह हुआ कि अगरेज़ी द्वारा शिक्षित भारत का सम्पर्क ग्रामीण भारत से बिलकुल टूटता गया। भारत के इतिहास में इससे पहले कभी यह न हुआ था कि शिक्षित लोग ग्रामों में न रहें और न जायँ। सर्वदा ही पण्डित लोग ग्रामों में जाते थे और अनेक तो वहीं रहते थे और कथा, गाथा इत्यादि से ग्रामों का जीवन सुसंस्कृत और सभ्य बना रहता था। अंगरेज़ी काल से पहले नगर और ग्राम की संस्कृति में कोई खाई न थी और उस समय ग्रामवासियों और साधारण स्थिति के नगरवासियों की वेशभूषा, खानपान और रहन-सहन में कोई बड़ा अन्तर नहीं दिखाई देता था। इसीलिए उस ज़माने में नगर और ग्राम में रोटी-बेटी का सम्बन्ध बड़ा गहरा रहता था। शहर की बेटी ग्राम में ब्याही जाती थी और ग्राम की शहर में। पर ऐसा होने से किसी को भी संस्कृति-भेद न होने के कारण कोई कष्ट या असुविधा न होती थी। पर अंगरेज़ी राज्यकाल में नगर और ग्राम में संस्कृति की दृष्टि से इतना अन्तर हो गया कि अगर शहर की बेटी गाँव में ब्याही जाती तो उसे काफ़ी तकलीफ़ और दुःख भोगना पड़ता। इसलिए नगर और ग्राम के सामाजिक सम्बन्ध और भी टूटने लगे और दोनों का सम्बन्ध केवल इतना रह गया कि ग्रामवासी शहर में आकर नाज बेच जायँ और कपड़ा मोल ले जायँ। नगर और ग्राम के बीच इस प्रकार की खाई बढ़ जाने से देश और भी पंगु होने लगा। साथ ही इस प्रकार की शिक्षा से ग्राम को यह हानि हुई कि उस के ऐसे वासी जिनकी बुद्धि कुशाग्र थी अथवा जो अन्यथा सक्रिय थे, ग्राम को छोड़कर नगर में बसने लगे। जो भी ग्राम का चतुर विद्यार्थी अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त कर लेता था वह तो अपनी अंग्रेज़ी मनोवृत्ति के कारण भारतीय ग्राम मे रहने की बात सोच ही न सकता था। फल यह हुआ कि जैसे सोख्ता पानी को पूरी तरह सोख लेता है उसी तरह ये विश्वविद्यालय बुद्धि-कुशाग्रता को ग्रामों से सोखने लगे और वहाँ केवल वही लोग बच गये जो बुद्धि में या चातुरी में पिछड़े हुए थे। जहाँ पहले ग्राम की बुद्धि

ग्राम के ही आर्थिक और सामाजिक जीवन में लगती थी वहाँ अब वह ग्राम से सर्वथा चली आई और शहरों में रहने लगी। इस प्रकार इस शिक्षा-प्रणाली के कारण हमारे ग्राम अँधेरे और अशिक्षा के घर बन गये। इस तरह जिनका काम जाति को अमृत दान करना था वही उसको विष का प्याला पिलाते रहे।

अंगरेजों के जमाने में इस प्रकार की शिक्षा-प्रणाली का कोई भी आर्थिक और राजनैतिक महत्त्व क्यों न रहा हो, अब तो न वह है और न रहना चाहिए। हमारे सामने सबसे बड़ी समस्या यह है कि संस्कृति और धन की दौड़ में और देशों में और हम में जो अन्तर पड़ गया है उसे जल्दी-से-जल्दी दूर कर दें। यदि हमने इस बारे में कोई ढील डाली या इसको पूरा न कर सके तो हमारी आजादी तो खतरे में पड़ेगी ही, हमारा अस्तित्व भी खतरे में पड़ जायगा। इस अन्तर को दूर करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम में से हरएक पूर्ण एकाग्रता से और हमारी सारी जाति पूर्ण एकता और लगन से इस काम में जुट जाय। पर यह तो तभी हो सकेगा जब हमारे वैयक्तिक और सामूहिक जीवन में जो विभक्तता और खाइयाँ पैदा हो गई हैं, वे पूरी तरह से दूर हो जायँ।

इसका अर्थ यह है कि हमें दो प्रकार के क़दम तुरन्त उठाने चाहिएँ। पहली बात, जिसकी हमें अत्यन्त आवश्यकता है, वह यह है कि इतिहास की इन तीन परम्पराओं के बारे में यह तय करलें कि इनमें हमें कैसे सामञ्जस्य स्थापित करना है। प्रत्यक्ष है कि यूरोप और अरब की दोनों धाराओं को यहाँ की मुख्य धारा में मिलना है। यह बात मैं इसलिए नहीं कहता कि मैं यहाँ की प्रथम धारा को अरब या यूरोप की धारा से सांस्कृतिक या आध्यात्मिक दृष्टि से बेहतर समझता हूँ। मेरी दृष्टि में बेहतरी और बदतरी का प्रश्न नहीं है। मेरे सामने तो केवल यही बात है कि प्रथम धारा हमारे देश के लगभग सभी आदमियों के सांस्कृतिक जीवन की बुनियाद में मौजूद है। कम-से-कम यह तो अकाट्य सत्य है कि वह यहाँ के ९० प्रतिशत वासियों के जीवन का सहारा है। अतः चाहे फिर यूरोप या अरब वाली धाराएँ पहली से अच्छी ही क्यों न हों, यह प्रयास सर्वथा असफल होगा कि प्रथम धारा को रोककर या बाँध बाँधकर अपने रास्ते से हटाकर बाद वाली धाराओं में जबरदस्ती मिला दिया जाय। प्रथम धारा से दूसरी धाराओं के मिलाने का अर्थ केवल इतना ही है कि वे अपने विशिष्ट तत्त्वों को प्रथम धारा के साथ प्रत्येक भारतीय के जीवन में पहुंचा दें और प्रत्येक भारतीय को उनका लाभ मिले। ग़ालिब के अशआर और शेक्सपीयर के ड्रामे महज कुछ चन्द लोगों की सम्पत्ति न रहकर अधिक-से-अधिक भारतवासियों की सम्पत्ति हो जायँ। साथ ही आज जो लोग प्रथम धारा की कृतियों से नफ़रत करते हैं, वे कम-से-कम इस बात के जानने की तो कोशिश करें कि उन कृतियों में कोई खूबी है या नहीं। हमारे देश के रहने वाले हर

एक शख्स का फ़र्ज़ है कि वह इन धाराओं की सांस्कृतिक देन को घृणा की या उपेक्षा की दृष्टि से न देखे, वरन् उन सबको चाव से पढ़े। जब मैं शेक्सपीयर के ड्रामों की या ग़ालिब के अशआर की बात कहता हूं तो उसका यह मतलब नहीं कि उन्हें अंगरेजी या फ़ारसी से लदी हुई हिन्दवी ज़बान में ही पढ़ना हर भारतवासी को ज़रूरी है। जो उन ज़बानों में उन्हें पढ़ना चाहते हैं या पढ़ सकते हैं, शौक़ से पढ़ें; पर जो लोग इन ज़बानों को नहीं समझते, उनको ये सब अपनी ही भाषा में लभ्य होना चाहिए अर्थात् विश्वविद्यालयों को यह प्रयत्न करना चाहिए कि वे यूरोप और अरब और इनके अलावा अन्य ऐतिहासिक परम्पराओं की सांस्कृतिक कृतियों का अनुवाद करायें और उनको विद्यार्थियों को मुहैया करें। पाठ्य-पुस्तकों में कुछ सबक़ ऐसे होने चाहिएँ जिन से इन ऐतिहासिक परम्पराओं का पता चले और उनकी कृतियों का आनन्द प्राप्त हो। यदि हम इस बारे में अपने सब भाइयों को साथ लेकर चलें तो हमें अपने मकसद को पूरा करने में बड़ी जल्दी क़ामयाबी होगी। मैं समझता हूँ कि हमारी जनता और हमारे बुद्धिजीवी लोगों के बीच की दीवार तभी टूट सकती है और उनके बीच की खाई तभी पट सकती है जब ये बुद्धिजीवी लोग अन्य भारतीयों में हिले-मिले रहें और इनकी अलग जाति न बन जाय। इस बारे में यह कह देना मैं ज़रूरी समझता हूँ कि राष्ट्रपिता गान्धी जी की सबसे बड़ी देन हमें यही थी कि उन्होंने अपने चर्खे, खादी, तीसरे दर्जे के सफ़र और भारतीय वेशभूषा के द्वारा हमारे शिक्षित वर्ग और जनता के टूटे हुए सम्बन्धों को जोड़ दिया था और इस प्रकार जाति को वह शक्ति, वह उत्साह और वह स्फूर्ति प्रदान कर दी थी जो शताब्दियों से उसमें न थी। हमें इस बात का ध्यान रखना है कि वह बनी-बनाई एकता कहीं हमारी नासमझी से फिर न टूट जाय। आज ऐसे कुछ पढ़े-लिखे लोग हैं जो यह समझते हैं कि गान्धी जी ने हमारा जो भारतीयकरण किया था वह अंग्रेज़ों के खिलाफ़ लड़ने के लिए तो ठीक था, किन्तु अब वह न केवल अनावश्यक है वरन् प्रतिक्रियावादी भी है। मैं समझता हूँ कि ऐसे लोगों ने यह बात नहीं पहचानी कि जनता के हृदय से सम्पर्क टूटने के बराबर और कोई हानिकर और प्रतिक्रियावादी क़दम न होगा। हमें प्रगति करनी है, हमें अपने देश में ज्ञान, साहित्य और कला का प्रसार करना है, पर इसका यह तरीक़ा नहीं कि हम जनता के हृदय से अपने को काटकर अलग कर लें। मैं समझता हूँ कि भारतीय वेशभूषा में भी विज्ञान का अध्ययन उसी ख़ूबी से किया जा सकता है जैसा कि और किसी वेष में। भारतीय भाषा में साहित्य पढ़ने से उसका आनन्द जाता रहे, ऐसी बात तो नजर नहीं आती, फिर व्यर्थ में हम जनता से अपना सम्पर्क क्यों काट दें? इसलिए मैं यह बलपूर्वक कहना चाहता हूँ कि विश्वविद्यालयों को भारतीय ऐतिहासिक परम्परा की उपेक्षा अब न करनी चाहिए और अपने अनिवार्य विषयों में भारतीय साहित्य को रखना

चाहिए। साथ ही उन्हें इस बात का प्रयास करना चाहिए कि जितनी जल्दी हो सके वे भारतीय भाषा या भाषाओं के माध्यम द्वारा शिक्षा देने का प्रबन्ध करें, क्योंकि ऐसा करने से ही समाज और व्यक्ति के व्यक्तित्व में जो विभक्तता मौजूद है, वह दूर की जा सकेगी।

दूसरा क़दम जो मैं ज़रूरी समझता हूँ यह है कि हम यह मानलें कि अब इस बात का समय आ गया है कि ये विश्वविद्यालय ग्रामों की बुद्धि के सोख्ता न होकर उसे व्याजसहित गाँवों को वापस देने की संस्था बन जायँ। यह बात तभी हो सकती है जब इन विश्वविद्यालयों का जीवन ऐसा न हो जो ग्राम से सर्वथा भिन्न है। मेरे इस कथन का यह तात्पर्य नहीं कि ग्रामीण जीवन की बुराइयों को हम विश्वविद्यालय के जीवन में स्थान दें। पर मैं यह ज़रूर समझता हूँ कि इसके जीवन में तड़क-भड़क और फ़ैशनपरस्ती की कोई आवश्यकता नहीं और न ये बातें उसमें होनी चाहिएँ। बापू के आश्रम में जीवन ग्रामीण जीवन-सा ही था। हां, उसमें ग्रामों के दोष न थे। मेरा विचार है कि हमें बहुत-कुछ उसी तरह का जीवन इन विश्वविद्यालयों में रखना चाहिए। यदि हम ऐसा कर सके तो यहाँ के विद्यार्थियों को ग्रामों में जाकर उनको प्रगतिशील और सभ्य बनाने में कोई मानसिक या सांस्कृतिक हिचकिचाहट न होगी।

यदि विश्वविद्यालयों में जीवन के प्रति दृष्टिकोण का ऐसा परिवर्तन हो गया तो मैं समझता हूँ कि आज नगरों में जो सांस्कृतिक दीवारें खड़ी हो गई हैं, आज ग्राम और नगर का जो सम्बन्ध बिलकुल टूट गया है और आज ग्राम से जो बुद्धि और कौशल नगरों में व्यर्थ खिंचा चला आ रहा है और आज हमारे शिक्षितों के व्यक्तित्व में जो विभक्तता है, उन सबकी बहुत-कुछ समाप्ति हो जायगी।

विश्वविद्यालयों में इस प्रकार दृष्टिकोण के क्रान्तिकारी परिवर्तन करने का भार विश्वविद्यालयों के संचालकों का है। यदि वे यह मानते हैं कि ये विश्वविद्यालय भारतीय जनता के सेवक हैं और इन्हीं के द्वारा जन-जीवन में ज्ञान की ज्योति और आदर्श का प्रेम फैलाया जा सकता है और यदि वे अपना यह कर्तव्य समझते हैं कि भारतीय जन-जीवन में ऐसे क्रान्तिकारी परिवर्तन करने वाले सिपाहियों को उन्हें पैदा करना है, तो मैं समझता हूँ कि वे इस बारे में विचारपूर्वक सक्रिय क़दम उठायेंगे।

साथ ही आप स्नातक और स्नातिकाओं का कर्तव्य है कि आप अपने देशवासियों के प्रति उस कृतज्ञता को प्रकट करने के लिए जो उन्होंने अपनी गाढ़ी कमाई से आपको शिक्षा देकर आप पर लाद दी है और साथ ही उनसे स्नेह और सहानुभूतिपूर्ण सम्बन्ध क़ायम करने के लिए और उनकी सेवा के लिए अपने को उत्सर्ग कर दें। लाखों घरों और झोंपड़ियों में आपको प्रकाश पहुँचाना है। आपके पास वह ज्योति है जो [illegible]

धन है जो जितना ही दान में दिया जाय बढ़ता ही जाता है। आप इनको देकर भारत के बच्चे-बच्चे में नवजीवन की लहर भर सकते हैं। सुदृढ़ विश्वास और मजबूत क़दमों से आगे बढ़िए और इतिहास की और अपने देश-भाइयों की आकांक्षा इस कर्तव्य को निभाकर पूरी कीजिए।

५

शिक्षा की नयी रूपरेखा[१]

आप जानते हैं कि हाल ही में गवर्नमेण्ट ने एक यूनिवर्सिटी कमीशन मुक़र्रर कया था जिसके प्रधान डॉक्टर राधाकृष्णन् थे और जिसमें इस देश के अलावे इंगलैंड और अमेरिका के भी विद्वान् सदस्य थे। उन्होंने परिश्रम करके सभी विश्वविद्यालयों की अध्यापन-पद्धति और दूसरी बातों की जाँच की है और एक बड़ी व्यापक रिपोर्ट दी है जिसमें शिक्षा के सभी पहलुओं पर बहुत गहराई से विचार किया गया है और बहुत ही मार्के का सुझाव दिया गया है। मैं समझता हूँ कि भारतवर्ष की सभी यूनिवर्सिटियाँ उस रिपोर्ट पर गम्भीरतापूर्वक विचार करेंगी और आप भी उसमें से जो कुछ आपके योग्य बताया गया हो मंजूर करेंगे। मैं केवल एक विषय की ओर आपका विशेष ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। दो कारणों से इस सूबे का उस विषय से विशेष सम्बन्ध है। एक तो यह है कि इस सूबे में इन्हीं ३०-३५ वर्षों के अन्दर शिक्षा का प्रचार बहुत बढ़ा है। स्कूलों की संख्या तो बहुत बढ़ी ही है, कालेजों की संख्या भी बहुत बढ़ी है और बढ़ती जा रही है। पर शिक्षा-पद्धति में और कार्यक्रम में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। जो कुछ पटना यूनिवर्सिटी के अनुसार चल रहा था उसी को घटा-बढ़ाकर इन नये खोले गये स्कूलों तथा कालेजों में भी जारी रखा गया है और इस बात की भी कोशिश हो रही है कि नयी यूनिवर्सिटियाँ भी क़ायम की जायँ। यह सन्तोष की बात है कि लोगों में शिक्षा सम्बन्धी उत्साह और दिलचस्पी देखने में आ रही है, पर इतना ही काफ़ी नहीं है। उस उत्साह का अच्छे-से-अच्छा उपयोग किया जाय तभी उससे अपेक्षित अच्छा फल निकल सकता है।

हमारी शिक्षा-पद्धति की बड़ी त्रुटि यह रही है कि जो लोग यूनिवर्सिटी से पढ़कर निकलते हैं वह उनको न तो किसी विशेष धन्धे के योग्य बनाती है और न उन्हें ऐसी व्यापक विद्या ही देती है कि आधुनिक दुनिया के शिक्षित समाज में उनको कोई अच्छा स्थान मिल सके। इस तरह वह विद्या न तो अर्थकारी होती है और न ज्ञानदायी। एक बुरा नतीजा यह भी होता है कि जो शिक्षा पा लेते हैं वह हाथ से काम करने और शरीर-श्रम को हेच निगाह से देखने लगते हैं। बहुत वर्षों की बात है, मेरे गाँव के नज़दीक के एक लड़के ने जिसके घर के लोगों से मेरा परिचय था, मेरे पास

---

१. भाषण : पटना विश्वविद्यालय का समावर्तन समारोह, २ मार्च, १९५०।

पत्र लिखा कि मैं मैट्रिकुलेशन परीक्षा पास कर चुका हूँ,मुझे कोई नौकरी दिलवा दीजिए। मैं अब घर का वह काम नहीं कर सकता जो और लोग करते हैं। वह अच्छे किसान-घर का लड़का था और घर के लोग खेती करके सुख से रहा करते थे। उस काम को करने में वह अपने को असमर्थ पाता था और नौकरी की फ़िक्र में था जिसमें न तो कोई विशेष प्रतिष्ठा मिलती है और न बहुत पैसे। मैंने इसमें उसका कोई दोष नहीं देखा। यह दोष शिक्षा-पद्धति का था कि [illegible] खानदानी काम को तुच्छ समझने लगा और किसी नये अच्छे काम के योग्य भी नहीं हुआ। यही सिलसिला अब बहुत जोरों से और बहुत बड़े पैमाने पर इस देश में बढ़ गया है और बढ़ता ही जा रहा है जिसका नतीजा दो प्रकार से देश के लिए बहुत ही हानिकर हो रहा है। यों तो अक्षर-ज्ञान से और थोड़ा-बहुत जो कुछ स्कूलों में और कालेजों में लोग सीख लेते हैं उससे उनको कुछ-न-कुछ लाभ पहुँचता ही है, पर समाज को दो विशेष नुक़सान पहुँचते हैं। पहली बात तो यह होती है कि इस प्रकार से शिक्षित होने वाले अपनी जैसी योग्यता समझते हैं, उसकी दूसरे न तो उतनी क़द्र करते हैं और न जितनी आशा लेकर वे शिक्षा समाप्त करते हैं, वह समाज पूरी करता है और इसका नतीजा यह होता है कि उनके दिलों में समाज और अपनी सारी ज़िन्दगी के प्रति एक प्रकार का द्वेष और संघर्ष पैदा हो जाता है और उनकी सारी ज़िन्दगी निराशापूर्ण हो जाती है। वह एक हतोत्साह और थके हुए मनुष्य की तरह नवजवानी से ही अपने दिन गिनने लगते हैं, और किसी चीज़ में न तो उनकी दिलचस्पी रह जाती है और न कोई जीवन में उच्चाभिलाषा। दूसरे, वह जो कुछ सीखते और जानते हैं उसका लाभ गाँवों को नहीं मिलता, क्योंकि इस प्रकार के शिक्षित लोग गाँवों में रहना पसन्द नहीं करते। उनकी ज़िन्दगी ही ऐसी बन जाती है कि वह शहर की चहल-पहल को पसन्द करने लगते हैं और इतने अधिक शिक्षित लोगों के बावजूद हमारे गाँव जैसे-के-तैसे रह जाते हैं। शहरों की आबादी बहुत बढ़ती जा रही है। शिक्षित, उत्साही और उच्चाभिलाषी, सभी लोग गाँव को छोड़कर शहरों में आ जाते हैं, चाहे वहाँ आने पर उनकी कुछ भी दुर्गति हो। गाँवों की स्वस्थ ज़िन्दगी उनसे छूट जाती है और शहरों का सुख बहुत थोड़े ही लोगों को नसीब होता है। इस तरह एक ओर समाज के प्रति असन्तोष और द्वेष की भावना बढ़ती है और दूसरी ओर जो गाँवों को उन्नत बना सकते थे, वह असफल मनोरथ होकर शहरवासी बन जाते हैं। इससे देश का कितना बड़ा नुक़सान होता है इसका अनुमान लगाना कठिन है। जिन लोगों ने इस विषय का अनुसंधान किया है उनका कहना है कि जो लोग गाँव से आकर शहरों में बसते हैं उनका पेशा तीन-चार पीढ़ी से अधिक नहीं चलता और इस तरह अच्छे-से-अच्छे लोग गाँव से शहरों में आकर अपनी समाप्ति कर देते हैं। इसलिए इन स्कूलों, कालेजों तथा

यूनिवर्सिटियों को बढ़ाते चले जाने के पहले इस विषय पर हमको सोचना चाहिए कि क्या इस पद्धति को जारी रखना जरूरी है और क्या इससे सचमुच हम लाभ उठा रहे हैं या केवल भेड़ियाधसान कर रहे हैं।

इसके अलावा इस प्रान्त में एक बड़े मार्के का काम हुआ है। जब सन् १९३८ में महात्मा गान्धी जी ने नयी तालीम की योजना देश के सामने रखी तो सभी प्रान्तों में कुछ-न-कुछ काम शुरू किया गया। इस प्रान्त का यह सौभाग्य रहा कि यद्यपि वह प्रयोग छोटे पैमाने पर शुरू किया गया, तथापि वह किसी-न-किसी तरह एक प्रकार से पूरा हो सका और देखा गया कि यद्यपि वातावरण और परिस्थिति पूरी तरह से अनुकूल नहीं थी तो भी जो सुविधा मिली उससे ही वह प्रयोग सफल साबित हुआ। मैंने सुना है और मुझे यह जानकर बड़ा सन्तोष हुआ है कि अब उसको और भी बढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा है। इससे भी बढ़कर सन्तोष का विषय यह है कि जनता इस विषय में बहुत दिलचस्पी ले रही है और अपनी दिलचस्पी और उत्साह को क्रियात्मक रूप में जमीन का दान देकर और दूसरे प्रकार से पूरा कर रही है। इसका अधिक प्रसार और प्रचार हो रहा है और मैं इसमें बहुत आशा के चिह्न देख रहा हूँ।

यूनिवर्सिटी कमीशन की रिपोर्ट में एक बड़ा अध्याय ग्रामीण यूनिवर्सिटी के नाम से दिया गया है। इसमें यह दिखलाया गया है कि जो नयी तालीम या बुनियादी तालीम गान्धी जी ने आरम्भ की थी उसको और भी किस तरह बढ़ाया जा सकता है, उच्च शिक्षा किस तरह गाँवों में रहते हुए लोगों को दी जा सकती है और किस तरह उच्च शिक्षा को पाकर भी लोग गाँवों में रहते हुए स्वयं अधिक सुखी रह सकते हैं और साथ ही गाँवों की भी उन्नति कर सकते हैं। इसलिए मैंने कहा कि उस रिपोर्ट के इस अध्याय का विशेष महत्त्व है, क्योंकि यहाँ प्रचलित प्रथा के अनुसार विद्यालय बढ़ते जा रहे हैं और उनके द्वारा गाँवों के हित के बदले अहित होना अधिक सम्भव है। यदि इस पद्धति का रुख बदल दिया जाय जिसके लिए बुनियादी तालीम ने बुनियाद डाल दी है और जमीन तैयार कर दी है तो सारे प्रान्त का सुधार हो जाय और उसकी हालत ही बहुत कुछ बदल जाय। मैं चाहता हूँ कि यूनिवर्सिटी के लोग और दूसरे लोग जो शिक्षा में दिलचस्पी रखते हैं इस विषय का अध्ययन करें और शिक्षालयों का रुख, कार्यक्रम और शिक्षा-पद्धति बदल दें जिससे जो लाभ रिपोर्ट में नयी पद्धति में दिखलाया गया है वह हम उठा सकें, जो उत्साह आज जनता में देखने में आ रहा है उसका सदुपयोग हो जाय और जिस तरह हम बुनियादी तालीम के प्रयोग में आगे रहे हैं उसी तरह इस प्रयोग के नतीजे में पूरा-पूरा लाभ उठाकर जो नयी दिशा ग्रामीण यूनिवर्सिटी क़ायम करने की ओर रिपोर्ट में दिखलाई गई है उस ओर हम आगे

बढ़ें। जो लोग नये कालेज और नयी यूनिवर्सिटी खोलने की फ़िक्र में हैं उनसे मेरा अनुरोध है कि विशेषकर इस विषय पर विचार करें और लकीर के फ़क़ीर न बनकर नये रास्ते पर चलकर देश का लाभ करें।

रिपोर्ट में कहा गया है कि यूनिवर्सिटी कमीशन ने यह विचार डेनमार्क के गाँवों के लिए वहाँ की ग्रामीण शिक्षा-पद्धति द्वारा जो कुछ किया गया है उससे और जो बुनियादी तालीम की नींव गान्धी जी ने डाली थी उससे प्रभावित होकर किया है। डेनमार्क यद्यपि एक छोटा-सा देश है जिसकी सारी आबादी ४० लाख के लगभग है, तथापि वह एक सुखी लोगों का देश है। उसमे सभी लोग शिक्षित भी है और उसमें धनी के धन और ग़रीब की ग़रीबी में इतना बड़ा अन्तर नहीं है जितना और देशों के धनी और ग़रीबों में पाया जाता है। सभी लोग प्रायः मध्यम वृत्ति के है और बिना किसी दूसरे देश और दूसरे लोगों के साथ इस प्रकार का विशेष सम्बन्ध रखे हुए जो यूरोप के अनेक देश एशिया और अफ्रीका के देशों के साथ सम्बन्ध रखते है वह सुखी है। अन्य सब बातों में भी वह यूरोप के दूसरे देशों के मुक़ाबले में कम उन्नत नहीं है, बल्कि कई बातों में यूरोप के लोग ही उसे अधिक उन्नत मानते हैं। इसका एक विशेष कारण उनकी शिक्षा-पद्धति है जिसका आरम्भिक भाग बुनियादी शिक्षा में और अन्तिम श्रेणी ग्रामीण यूनिवर्सिटी में देखी जा सकती है। यह नयी पद्धति केवल हमारी शिक्षा में ही क्रान्ति नहीं लायेगी, अपितु हमारे जीवन में भी क्रान्ति लायेगी। इससे अन्य लाभ तो होंगे ही, हमारी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति का भी आधुनिक विज्ञान के साथ ऐसा सुन्दर समन्वय हो जायगा कि वह सबके जीवन के लिए एक आदर्श रूप होगा। इसलिए मै चाहता हूँ कि जो लोग बिहार में नयी यूनिवर्सिटी स्थापित करने की सोच रहे हैं, वह केवल पुरानी यूनिवर्सिटियों की नक़ल करके ही सन्तुष्ट न हों, इस ग्रामीण यूनिवर्सिटी की योजना को ही मानकर अपना काम पूरा करें। जब से मेरा सम्पर्क पूज्य महात्मा गान्धी जी के साथ हुआ तब से ही मेरा आदर मौजूदा पद्धति और शिक्षा-संस्थाओं के प्रति कम हो गया और यद्यपि मेरे कई मित्रों ने पुराने ढर्रे की संस्थाओं की स्थापना के लिए बहुत परिश्रम किया, तथापि मुझे कोई विशेष दिलचस्पी उसमें नहीं रही। मैं राष्ट्रीय विद्यालयों और नयी तालीम के साथ काफ़ी दिलचस्पी रखता रहा हूँ और आज जब प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य की स्थापना हो गई है और यूनिवर्सिटी कमीशन की सिफ़ारिशें सामने आ गई हैं तो मेरी दिलचस्पी इस नयी तालीम में और ग्रामीण यूनिवर्सिटी में और भी बढ़ गई है और मैं चाहता हूँ कि यह प्रयोग जिसे बिहार ने सफलतापूर्वक चलाया है, आगे की सीढ़ियों पर बढ़े और ग्रामीण यूनिवर्सिटी की स्थापना सबसे पहले करके नया आदर्श देश के सामने रखे।

ग्रामीण यूनिवर्सिटी के अलावे मौजूदा यूनिवर्सिटी के सुधार के लिए और उनका प्रगति के लिए नयी दिशा का निर्देश भी बहुत ही सुन्दरता और गम्भीरता के साथ यूनिवर्सिटी कमीशन ने किया है। मैं उसकी चन्द सिफ़ारिशों की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ जिससे इस यूनिवर्सिटी को और इससे सम्बद्ध स्कूलों और कालेजों को आप सुधार सकें। मैं यहाँ केवल इशारा मात्र कर सकता हूँ। पूरी सिफ़ारिश और उसके महत्त्व को समझने के लिए तो रिपोर्ट को ही पढ़ना चाहिए। गणराज्य की सफलता के लिए उन लोगों में, जिनके हाथों में अधिकार दिया गया है, कुछ गुण होने चाहिएँ। लोग बहुधा यह कह दिया करते हैं कि इस देश के लोग निरक्षर हैं इसलिए वह बालिग़ मताधिकार का ठीक उपयोग नहीं करेंगे। मैं यह नहीं मानता हूँ। मेरा विचार है कि अक्षर-ज्ञान के बिना भी हमारे देश के लोगों में संस्कृति की ऐसी पुट है और साधारणतया उनमें इतनी बुद्धि और विवेक है कि यदि उन्हें उनके स्वत्वों और दायित्वों को ठीक समझा दिया जाय तो वे इस अधिकार का सदुपयोग करेंगे। इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं अक्षर-ज्ञान और पुस्तकीय ज्ञान को महत्त्व नहीं देता हूँ। उनका महत्त्व है पर मैं नहीं मानता कि जब तक वह ज्ञान जनता को प्राप्त न हो जाय तब तक वह निकम्मी बनी रहेगी। बात यह है कि जिस प्रकार का पुस्तकीय ज्ञान आज हमको मिलता है वह कुछ बहुत काम का नहीं है। विशेषकर नयी परिस्थिति में उससे उतना काम नहीं निकलेगा जितने की हम अपेक्षा करते हैं। यूनिवर्सिटी कमीशन ने इस बात को समझकर प्रचलित पद्धति में हेरफेर करने की सिफ़ारिश की है। एक मार्के की सिफ़ारिश यह है कि किसी विशेष विषय के ज्ञान से ही हमको सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए। विशेष ज्ञान के पहले साधारण ज्ञान ऐसा होना चाहिए जो मनुष्य को जीवन-संग्राम में सफल बना सके, उसकी विवेक-बुद्धि को इस तरह जाग्रत कर सके कि जो प्रश्न उसके सामने आवे उसको वह समझ सके और आवश्यकतानुसार निर्णय कर सके; जो अधिक ज्ञान प्राप्त करने की परिभाषा को हमेशा जाग्रत रखे और जिससे प्रत्येक मनुष्य इसका स्थान समाज और देश में ठीक बताये और अपने कर्तव्यों के प्रति निष्ठा जाग्रत करे। इस प्रकार की शिक्षा को उन्होंने जनरल एजुकेशन का नाम दिया है। मैं इसे एक बड़े महत्त्व की सिफ़ारिश मानता हूँ कि इस पर उन्होंने इतना जोर दिया है।

शिक्षा के माध्यम के सम्बन्ध में उन्होंने बहुत गवेषणा की है और बतलाया है कि मातृभाषा का और राजकीय भाषा का शिक्षाक्रम में क्या स्थान होना चाहिए और उनके अभ्यास के लिए कितना समय और श्रम लगाना चाहिए तथा जहाँ की राजकीय भाषा और मातृभाषा एक ही है, वहाँ के लोगों के लिए संस्कृत अथवा दूसरी प्राचीन भाषा का और भारत की दूसरी प्रान्तीय भाषाओं में से कम-से-कम एक का ज्ञान किस